विवेक-ज्योति

वर्ष ४१ अंक ५ मई २००३ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी मासिक

मई २००३

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक ५

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-
विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)
दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – ७

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

''श्रीमद् भागवत में है – अवधूत ने चौबीस गुरुओं में चील को भी एक गुरु बनाया था। एक जगह धीवर मछली मार रहे थे, एक चील झपटकर एक मछली ले गयी, परन्तु मछली को देखकर सैकड़ों कौए उसके पीछे लग गए और साथ ही काँव काँव करके बड़ा शोरगुल मचाने लगे। मछली को लेकर चील जिस तरफ भी जाती, कौए भी उसके पीछे पीछे उसी तरफ जाते। चील दक्षिण की ओर गयी, तब कौए भी उसी ओर गये। जब वह उत्तर की तरफ गयी, तब वे भी उसी ओर गये। इसी तरह पूर्व और पश्चिम की ओर भी चील चक्कर काटने लगी। अन्त में, घबराहट के साथ चक्कर लगाते हुए मछली उससे छूटकर जमीन पर गिर पड़ी। तब वे कौए चील को छोड़ मछली की ओर उड़े। चील तब निश्चिन्त होकर एक पेड़ की डाल पर जा बैठी और सोचने लगी, – 'कुल बखेड़े की जड़ यह मछली ही थी; अब वह मेरे पास नहीं है, इसीलिए मैं निश्चिन्त हूँ।'

''अवधूत ने चील से यह शिक्षा प्राप्त की कि जब तक मछली साथ रहेगी अर्थात् वासना रहेगी, तब तक कर्म भी रहेगा, और कर्म के कारण चिन्ता और अशान्ति भी रहेगी। वासना का त्याग होने से ही कर्मों का क्षय हो जाता है और शान्ति मिलती है। भोग रहने से ही योग घट जाता है। भोग रहने से ही कष्ट होता है। भोगों का त्याग होने से ही शान्ति होती है। फिर देखो, अर्थ ही अनर्थ हो जाता है। तुम भाई भाई अच्छे हो, परन्तु भाइयों के बीच बँटवारे के प्रश्न पर झगड़ा होता है। कुत्ते आपस में एक-दूसरे को चाटते हैं, खूब प्रेम भाव रहता है। परन्तु उन्हें यदि कोई भात, रोटी आदि कुछ फेंक दे, तो वे आपस में एक-दूसरे को काटने लगेंगे।

''इसीलिए सदैव ही साधुसंग आवश्यक है। भोग ग्रहण करने में ही ज्वाला है। चील के मुँह में जब तक मछली थी, तब तक झुण्ड के झुण्ड कौए आकर उसे तंग कर रहे थे। साधु-संगति में ही शान्ति मिलती है। जल के भीतर मगर बहुत देर तक रहता है, साँस लेने के लिए एक एक बार जल के ऊपर चला आता है। उस समय साँस लेकर शान्त हो जाता है।''

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ४१ मई २००३ अंक ५

नीति-शतकम्

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ।।८३।।

अन्वयः – विभूषणम् ऐश्वर्यस्य सुजनता, शौर्यस्य वाक्संयमः, ज्ञानस्य उपशमः, श्रुतस्य विनयः, वित्तस्य पात्रे व्ययः, तपसः अक्रोधः, प्रभवितुः क्षमा, धर्मस्य निर्व्याजता । सर्वेषाम् अपि परं भूषणं सर्वकारणम् इदं शीलम् ।

भावार्थ – समृद्धि का आभूषण सज्जनता, वीरता का वचन-संयम, ज्ञान का शान्ति, शास्त्रज्ञ का विनय, धन का सत्पात्र में व्यय, तपस्या का क्रोध-राहित्य, प्रभुत्व का क्षमा और धर्म का आभूषण निष्कपटता है, परन्तु समस्त गुणों का मूल शील या सदाचार ही सर्वश्रेष्ठ आभूषण हैं।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।।८४।।

अन्वयः – यदि नीतिनिपुणाः निन्दन्तु वा स्तुवन्तु, लक्ष्मीः समाविशतु वा यथेष्टं गच्छतु, वा मरणम् अद्य एव वा युगान्तरे अस्तु, धीराः न्याय्यात् पथः पदं न प्रविचलन्ति ।

भावार्थ – नीति के ज्ञातागण चाहे निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी जी चाहे आएँ या उनकी जहाँ भी इच्छा हो चली जायँ, मृत्यु चाहे आज ही हो जाय अथवा एक युग के बाद हो, परन्तु धीर व्यक्ति कभी अपने न्यायोचित मार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होते।

– भर्तृहरि

मातृ-वन्दना

– १ –

(भैरवी-दादरा)

सब छोड़ के आया हूँ, जननि तेरी शरण में ।
थोड़ी सी जगह दे दे, अपने चरण कमल में ।।

इस जग का कुछ भी
अब तो, है मुझको नहीं भाता,
तेरे बिना संसार में जीना नहीं आता;
बहता ही जा रहा हूँ अपने अश्रु के जल में ।।

भटका था मैं कुमार्ग पे, अभिमान में फूला,
विषयों के मोह में पड़ा, निज साध्य को भूला;
अब तो मुझे उठा ले, अपनी गोद विमल में ।।

– २ –

(वृन्दावनी सारंग-त्रिताल)

फिर आया हूँ माँ तेरे द्वारे।
अबकी बार न लौटाना रे ।।

गिरते-पड़ते उठते-चलते,
भटक रहा हूँ इस जीवन में,
साध यही बस मेरे मन में,
चरण कमल में बस जाना रे ।।

लाखों योनि भटक कर आया,
तो भी बोध नहीं हो पाया,
अब कर दूर जननि निज माया,
सुत को गोद उठा ले ना रे ।।

तेरे खातिर सब कुछ छोड़ा,
सारे जग से नाता तोड़ा,
अब तो कृपादृष्टि कर थोड़ा,
स्नेहसुधा से प्राण जुड़ा रे ।।

– *विदेह*

वेदान्त का तात्पर्य

स्वामी विवेकानन्द

भौतिकवाद कहता है कि मुक्ति की बात एक भ्रम है। आदर्शवाद कहता है कि बन्धन का अस्तित्व बतानेवाली वाणी भ्रम है। वेदान्त कहता है कि तुम एक साथ ही मुक्त और बद्ध दोनों हो; जागतिक स्तर पर तुम कभी भी मुक्त नही हो, किन्तु पारमार्थिक या आध्यात्मिक स्तर पर तुम चिर मुक्त हो।

वेदान्त-दर्शन अति प्राचीन है। यह उस विशाल पुरातन आर्य साहित्य से निकला है, जिसे वेद कहते हैं। यह वेदान्त-दर्शन सदियों तक संग्रहित और चयनित उस विशाल साहित्य में निबद्ध सभी विचारधाराओं, अनुभवों तथा विवेचनों का सर्वोत्तम पुष्प है। इस वेदान्त की कुछ विशेषताएँ हैं। प्रथमत: यह पूर्णरूपेण अवैयक्तिक है। इसकी उत्पत्ति किसी व्यक्ति-विशेष या धर्मगुरु से नहीं हुई। यह किसी व्यक्ति-विशेष को केन्द्र में रखकर स्वयं को स्थापित नहीं करता। तथापि किसी व्यक्ति-विशेष को केन्द्रित करके स्थापित हुए दर्शनों के विरुद्ध भी इसे कुछ कहना नहीं है।

भारत में आज जितने भी दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, वे सभी वेदान्त-दर्शन के अन्तर्गत आते हैं। वेदान्त की कई व्याख्याएँ हुई हैं और सभी प्रगतिशील रही हैं। प्रारम्भ में व्याख्याएँ द्वैतवादी और अन्त में अद्वैतवादी हुईं।

वेदान्त और आधुनिक विज्ञान – दोनों ही जगत् की कारण स्वरूप एक ऐसी वस्तु का निर्देश करते हैं, जिससे अन्य किसी की सहायता के बिना जगत् का प्राकट्य होता है। सारा कारण स्वयं उसी में हैं, जैसे कुम्हार मिट्टी से घट का निर्माण करता है; यहाँ कुम्हार होता है निमित्त-कारण, मिट्टी होती है समवायी उपादान-कारण और कुम्हार का चक्र होता है असमवायी उपादान-कारण। ये तीनों कारण स्वयं आत्मा ही है। आत्मा कारण भी है और अभिव्यक्ति या कार्य भी है। वेदान्ती कहते हैं कि यह जगत् सत्य नहीं है, यह तो आपात्-प्रतीयमान सत्ता मात्र है। प्रकृति आदि कुछ भी नहीं है, अविद्यारूपी आवरण में से एकमात्र ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। विशिष्टाद्वैत-वादी कहते हैं कि ईश्वर ही प्रकृति या जगत प्रपंच हुआ है; अद्वैतवादी स्वीकार करते हैं कि भले ही ईश्वर इस जगत्प्रपंच के रूप में प्रतीयमान होता है, परन्तु वह यह जगत् नहीं है।

वेदान्त-दर्शन का एक सिद्धान्त विश्व के सभी धर्मों में पाया जाता है और वह यह प्रतिपादित करता है, दावा करता है कि मनुष्य वस्तुत: दिव्य है तथा जो कुछ भी हम लोग अपने चारों ओर देखते हैं, वह उसी दिव्यता के बोध से उद्भूत हुआ है। सुन्दर, बलयुक्त तथा हितकर हर वस्तु और मानव प्रकृति में जो कुछ भी शक्तिशाली है, वह सब उसी दिव्यता से उद्भूत है। यह दिव्यता यद्यपि बहुतों में अव्यक्त रहती है, तथापि मूलत: मनुष्य मनुष्य में कोई भेद नहीं है, सभी समान रूप से दिव्य हैं। यह ऐसा ही है, मानो पीछे एक अनन्त समुद्र है और उसमें हम लोग इतनी सारी लहरें हैं और हममें से हर एक उस अनन्त को व्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील हो।

वेदान्त का एक दूसरा विशिष्ट सिद्धान्त यह है कि धार्मिक विचारों की अनन्त विविधता को स्वीकार किया जाना चाहिए और हर व्यक्ति को एक ही विचारधारा में लाने का प्रयत्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि लक्ष्य तो एक ही है। वेदान्ती अपनी काव्यमयी भाषा में कहता है – 'जैसे विभिन्न पर्वतों से निकलनेवाली बहुत-सी नदियाँ, सीधे या टेढ़े मार्गों से बहकर अन्तत: समुद्र में ही गिरती हैं, वैसे ही ये सभी विभिन्न धर्म व सम्प्रदाय, विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से प्रकट होकर, सीधे या टेढ़े मार्गों से चलते हुए भी अन्तत: तुम्ही को प्राप्त होते हैं।'

वेदान्त संसार को केवल दु:खमय नहीं कहता। ऐसा समझना भूल है। और यह कहना भी ठीक नहीं कि जगत् सुख से परिपूर्ण है। बालकों को यह शिक्षा देना गलत है कि यह जगत् केवल मधुमय है, यहाँ केवल सुख है, केवल फूल हैं, केवल सौन्दर्य है। हम सारे जीवन इन्हीं का स्वप्न देखते रहते हैं। किसी एक व्यक्ति ने दूसरे की अपेक्षा अधिक दु:ख भोगा है, केवल इसीलिए सब कुछ दुखमय बताना भी ठीक नहीं। संसार इस द्वैतभावपूर्ण अच्छे-बुरे का खेल है। साथ ही वेदान्त कहता है, "यह न सोचो कि अच्छा और बुरा, दो पूर्णत: भिन्न वस्तुएँ हैं। वस्तुत: वे एक ही वस्तु हैं। वह एक ही वस्तु भिन्न भिन्न रूप से, भिन्न भिन्न आकार में आविर्भूत हो एक ही व्यक्ति के मन में भिन्न भिन्न भाव उत्पन्न कर रही है।"

वेदान्त दर्शन चरम निराशावाद के साथ प्रारम्भ होता है और उसकी समाप्ति होती है यथार्थ आशावाद में। हम ऐंद्रिक आशावाद को नहीं मानते हैं, पर इन्द्रियातीत आत्मानुभूति पर आधारित सच्चे आशावाद को स्वीकार करते हैं। यथार्थ सुख इन्द्रियों में नहीं, उससे परे है और वह हर व्यक्ति में विद्यमान है। संसार में हम जो तथाकथित आशावाद देखते हैं, वह हमें इन्द्रियपरायण बनाकर विनाश की ओर ले जाता है।

वेदान्त का उद्देश्य ही सब वस्तुओं में भगवान् का दर्शन
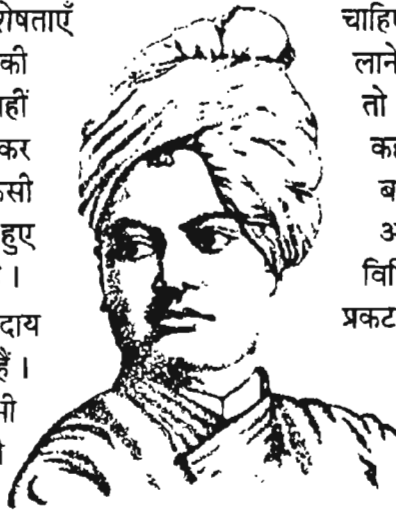
करना है, उनका जो रूप बाहर से दिखाई देता है, उसकी जगह उन्हें उनके वास्तविक स्वरूप में जानना है।

वेदान्त कहता है कि तुम पवित्र और पूर्ण हो। ऐसी भी एक अवस्था है, जो पाप और पुण्य से परे है, और वही तुम्हारा सच्चा स्वरूप है। वह अवस्था पुण्य से भी ऊँची है। पुण्य में भी भेद-ज्ञान है, किन्तु पाप से कम। हमारे यहाँ पाप विषयक कोई सिद्धान्त नहीं। हम तो उसे अज्ञान कहते हैं।

वेदान्त मानता है कि धर्म तो वर्तमान में ही अनुभूति करने की चीज है, क्योंकि उसके अनुसार जन्म और मृत्यु, इहलोक और परलोक आदि बातें अन्धविश्वास तथा पूर्व धारणाओं पर आधारित हैं। काल के प्रवाह का कभी विराम नहीं होता, भले ही अपनी धारणाओं से हम उसमें विराम मान लें। चाहे दस बजा हो या बारह, काल में कोई अन्तर नहीं पड़ता! हाँ, प्रकृति में कुछ परिवर्तन भले ही दीख पड़ते हैं। समय का प्रवाह तो अविच्छिन्न रूप से सतत जारी रहता है। तब फिर इस जन्म और उस जन्म का क्या अभिप्राय है? यह तो केवल समय का प्रश्न है और जो काम पिछले समय में न किया जा सका हो, उसे गति को तीव्रतर करके अब पूरा किया जा सकता है। इस तरह वेदान्त का कहना है कि धर्म की अनुभूति तो यहीं हो सकती है और तुम्हारे धार्मिक होने का अर्थ है कि तुम किसी धर्म की शरण में गए बिना ही शुरू करो और अपनी साधना से ही धर्म की अनुभूति करो। जब तुम ऐसा कर सकोगे, तभी तुम्हारा कोई धर्म होगा। उसके पहले तुम न केवल नास्तिक, बल्कि उससे भी गये-बीते हो, क्योंकि नास्तिक कम-से-कम सच्चा तो है, वह कहता है, 'मुझे इन सारी चीजों का कोई ज्ञान नहीं', जबकि दूसरे लोग ज्ञान न रखते हुए भी सर्वत्र ढिंढोरा पीटते चलते हैं, 'हम बड़े धार्मिक हैं।'

यूरोप में भी आजकल भौतिकवाद की पताका फहरा रही है। इन सन्देहवादियों के उद्धार के लिए भले ही तुम प्रार्थना करो, पर वे विश्वास नहीं करेंगे; वे चाहते हैं बुद्धि। यूरोप का उद्धार एक बुद्धिपरक धर्म पर निर्भर है; और द्वैतरहित, एकत्व-प्रधान, निर्गुण ईश्वर की स्थापना करनेवाला यह अद्वैतवाद ही एक ऐसा धर्म है, जो किसी बौद्धिक जाति को सन्तुष्ट कर सकता है। जब कभी धर्म लुप्त होने लगता है और अधर्म का उत्थान होता है, तभी इसका आविर्भाव होता है। इसीलिए यह यूरोप और अमेरिका में प्रवेश करके दृढ़मूल होता जा रहा है।

अद्वैतवाद ही एकमात्र ऐसा धर्म है, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के सिद्धान्तों के साथ भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दिशाओं में न केवल मेल ही खाता है, वरन् उनसे भी आगे जाता है, और इसी कारण वह आधुनिक वैज्ञानिकों को इतना भाता है। वे देखते हैं कि प्राचीन द्वैतवादी धर्म उनके लिए पर्याप्त नहीं हैं, उनसे उनकी आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती।

अद्वैतवाद की एक और विशेषता यह है कि अद्वैत सिद्धान्त अपने आरम्भ काल से ही अविध्वंसात्मक रहा है। यह प्रचार करने के साहस का गौरव उसे प्राप्त है –

न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥

– 'ज्ञानियों को चाहिए कि वे अज्ञानी, कर्म में आसक्त लोगों में बुद्धिभेद उत्पन्न न करें; विद्वान् व्यक्ति को स्वयं युक्त रहकर उन लोगों को सब प्रकार के कर्मों में नियुक्त करना चाहिए।'

अद्वैतवाद कहता है – किसी की मति को विचलित मत करो, सभी को उच्च से उच्चतर मार्ग पर जाने में सहायता दो।

संसार के सभी द्वैतवादी स्वभावत: एक ऐसे सगुण ईश्वर में विश्वास करते हैं, जो एक उच्च शक्ति-सम्पन्न मनुष्य मात्र है, और एक लौकिक शासक की भाँति कुछ से प्रसन्न तथा कुछ से अप्रसन्न होता है। वह बिना किसी कारण ही किसी जाति या राष्ट्र से प्रसन्न है और उन पर वरदानों की वृष्टि करता रहता है। अत: द्वैतवादी के लिए यह मानना स्वाभाविक हो जाता है कि ईश्वर के कुछ विशेष कृपापात्र होते हैं और वह उनमें से एक होने की आशा करता है। तुम देखोगे कि सभी धर्मों में यह विचार पाया जाता है कि 'हमीं ईश्वर के प्रिय पात्र हैं, हमारी ही तरह विश्वास करने से हमारा ईश्वर तुम पर कृपा करेगा।' और कितने ही द्वैतवादी तो ऐसे हैं, जिनका मत और भी भयानक है। वे कहते हैं, "ईश्वर पूर्व विधान के अनुसार जिनके प्रति दयालु है, केवल उन्हीं का उद्धार होगा और शेष सब सिर पटककर मर भी जायँ, तो भी वे इस अन्तरंग दल में प्रवेश नहीं पा सकते।" तुम मुझे एक भी ऐसा द्वैतवादी धर्म बता दो, जिसके भीतर यह संकीर्णता न हो। यही कारण है कि ये सब धर्म सदैव परस्पर युद्ध करते रहे हैं और करते रहेंगे।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानवात्मा के अमरत्व सम्बन्धी दूसरे सिद्धान्त के साथ ही साथ चलता है। कोई भी वस्तु ऐसी नही है, जिसका किसी एक बिन्दु पर अन्त तो होता हो, पर वह अनादि हो और न कोई ऐसी ही वस्तु है, जिसका किसी एक बिन्दु पर प्रारम्भ हो, पर उसका अन्त न हो। हम इस विकट असम्भाव्यता में कदापि विश्वास नहीं कर सकते कि 'मानवात्मा' का कोई आदि है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मा की स्वतंत्रता को प्रतिपादित करता है।

जो शून्य से आया है, वह अवश्य शून्य में ही मिल जाएगा। हममें से कोई भी शून्य से नही आया है, अत: हम शून्य में नहीं मिल जायँगे। हम अनन्त काल से विद्यमान हैं और रहेंगे, और विश्व-ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई शक्ति नही है, जो हमारा अस्तित्व मिटा सके। इस पुनर्जन्मवाद से हमें जरा भी डरना नहीं चाहिए, क्योकि वही तो मानव की नैतिक उन्नति का प्रधान सहायक है। चिन्तनशील व्यक्तियों का यही न्यायसंगत

सिद्धान्त है। यदि भविष्य में चिरकाल के लिए तुम्हारा अस्तित्व सम्भव हो, तो यह भी सच है कि अनादि काल से तुम्हारा अस्तित्व था; इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नही सकता।

आत्मा न कभी आती है, न जाती है; यह न तो कभी जन्म लेती है और न कभी मरती है। प्रकृति ही आत्मा के सम्मुख गतिशील है और इस गति की छाया आत्मा पर पड़ती रहती है। भ्रमवश आत्मा सोचती है कि प्रकृति नहीं, बल्कि वही गतिशील है। जब तक आत्मा ऐसा सोचती रहती है, तब तक वह बन्धन में रहती है; किन्तु ज्योंही उसे यह पता चल जाता है कि वह सर्वव्यापक है, त्योंही वह मुक्ति का अनुभव करती है। जब तक आत्मा बन्धन में रहती है तब तक उसे जीव कहते हैं। इस प्रकार आपने देखा कि समझने की सुविधा के लिए ही हम ऐसा कहते हैं कि आत्मा आती और जाती है, ठीक वैसे ही, जैसे खगोलशास्त्र में सुविधा के लिए यह कल्पना करने को कहा जाता है कि सूर्य पृथ्वी के चारों तरफ घूमता है, यद्यपि सच्चाई वैसी नहीं है। तो जीव अर्थात् आत्मा ऊँचे या नीचे स्तर पर आता-जाता रहता है। यही सुप्रसिद्ध पुनर्जन्मवाद का नियम है; सृष्टि इसी नियम से बद्ध है।

ज्ञानयोगी के जीवन का उद्देश्य जीवन्मुक्त होना है। वे ही जीवन्मुक्त हैं, जो इस जगत् में अनासक्त होकर रह सकते हैं। वे जल के पद्म-पत्र के समान रहते हैं – जैसे जल में रहने पर भी जल उसे कदापि भिगो नहीं सकता, उसी प्रकार वे जगत् में निर्लिप्त भाव से रहते हैं। वे न केवल मनुष्य जाति में, अपितु सकल प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। क्योंकि उन्होंने उस पूर्ण पुरुष के साथ अभेदत्व की अनुभूति कर ली है; उन्होंने उपलब्धि की है कि वे भगवान् के सहित अभिन्न हैं।

जिन लोगों ने आत्मा को प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, उनके लिए अतीत जीवन के शुभ संस्कार, शुभ-वेग ही बचे रहते हैं। शरीर में वास करते हुए और अनवरत कर्म करते हुए भी वे केवल सत्कर्म ही करते हैं; उनके मुख से सबके प्रति मात्र आशीर्वाद ही निकलता है, उनके हाथ केवल सत्कार्य ही करते हैं, उनका मन केवल सत् चिन्तन ही करता है। चाहे वे कहीं भी रहें, उनकी उपस्थिति ही सर्वत्र मानव जाति के लिए महान् आशीर्वाद होती है।

कुछ लोग हैं, जो अद्वैतवाद को समझते तो हैं नहीं, पर उसके उपदेशों को उपहास का विषय बनाते हैं। वे कहते हैं, "शुद्ध और अशुद्ध क्या है? पुण्य और पाप में भेद क्या है? यह सब मानवीय अन्धविश्वास है।" और वे अपने कार्यों में कोई नैतिक बाधा नहीं रखते। यह तो पूर्ण शठता है और ऐसे उपदेशों से बड़ी-से-बड़ी हानि हो सकती है।

यह शरीर पुण्य और पाप – हानिरहित पुण्य एवं हानिप्रद पाप – इन दो तरह के कार्यों से बना है। एक काँटा मेरे शरीर में चुभा है और मैं उसे निकालने के लिए दूसरा काँटा उठाता हूँ। फिर दोनों को फेंक देता हूँ। पूर्णता चाहनेवाला पुण्य का काँटा लेता है और उससे पाप का काँटा निकालता है। इसके बाद भी वह जीवित रहता है और केवल पुण्य रह जाने से जो क्रिया का वेग उसमें रहता है, वह निश्चय ही पुण्य का होता है। जीवन्मुक्त में किंचित् पुण्य रह जाते है और वह जीवित रहता है, पर जो कुछ वह करता है, वह पुण्य ही होता है।

अत: यदि मैं यह उपदेश दूँ कि तुम्हारी प्रकृति असत् है और तुमने कुछ भूलें की हैं, इसलिए अब तुम अपना जीवन केवल पश्चात्ताप करने तथा रोने-धोने में ही बिताओ, तो इससे तुम्हारा कुछ भी भला न होगा, वरन् उससे और भी दुर्बल हो जाओगे। ऐसा करना तुम्हें सत्पथ के बजाय असत्पथ दिखाना होगा। यदि हजारों साल इस कमरे में अँधेरा रहे और तुम कमरे में आकर, 'हाय! बड़ा अँधेरा है! बड़ा अँधेरा है!' कह कहकर रोते रहो, तो क्या अँधेरा चला जायगा? कभी नहीं। एक दियासलाई जलाते ही कमरा प्रकाशित हो उठेगा।

अत: जीवन भर 'मैंने बहुत दोष किये हैं, मैंने बहुत अन्याय किया है', यह सोचने से क्या तुम्हारा कुछ भी उपकार हो सकेगा? हममें बहुत-से दोष हैं, यह किसी को बतलाना नहीं पड़ता। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो, एक क्षण में सब अशुभ चला जायगा। अपने सच्चे स्वरूप को पहचानो, सच्चे 'मैं' को – उसी ज्योतिर्मय उज्ज्वल, नित्य शुद्ध 'मैं' को, प्रकाशित करो – हर व्यक्ति में उसी आत्मा को जगाओ। मैं चाहता हूँ कि सभी व्यक्ति ऐसी दशा में आ जायँ कि अति जघन्य व्यक्ति को भी देखकर उसकी बाह्य दुर्बलताओं की ओर वे दृष्टिपात न करें, बल्कि उसके हृदय में रहनेवाले भगवान को देख सकें। और उसकी निन्दा न कर, यह कह सकें, 'हे स्वप्रकाशक, ज्योतिर्मय, उठो! हे सदा-शुद्ध-स्वरूप उठो! हे अज, अविनाशी, सर्व-शक्तिमान, उठो! आत्मस्वरूप व्यक्त करो। तुम जिन क्षुद्र भावों में आबद्ध पड़े हो, वे तुम्हें शोभा नहीं देते।'

अद्वैतवाद इसी सर्वश्रेष्ठ प्रार्थना का उपदेश देता है। निज स्वरूप का स्मरण, सदा उसी अन्त:स्थ ईश्वर का स्मरण; सदा उसी को अनन्त, सर्व-शक्तिमान, सदाशिव, निष्काम कहकर स्मरण – यही एकमात्र प्रार्थना है। यह क्षुद्र 'मैं' उसमें नहीं रहता, क्षुद्र बन्धन उसे नहीं बाँध सकते। और वह अकाम है, अत: अभय और ओज-स्वरूप है, क्योंकि कामना तथा स्वार्थ से ही भय की उत्पत्ति होती है। जिसे अपने लिए कोई कामना नहीं, वह किससे डरेगा? कौन-सी चीज उसे डरा सकेगी? क्या उसे मृत्यु डरा सकती है? अशुभ, विपत्ति डरा सकती है? कभी नहीं। अत: यदि हम अद्वैतवादी हैं, तो हमें यह मानना होगा कि हमारा 'मैं-पन' इसी क्षण से मृत है। फिर मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ, अमुक अमुक हूँ, यह सब भाव नहीं रह

जाता, ये अन्धविश्वास मात्र थे, और शेष रहता है वही नित्य शुद्ध, नित्य ओज-स्वरूप, सर्व-शक्तिमान, सर्वज्ञ-स्वरूप, और तब हमारा सारा भय चला जाता है। कौन इस सर्वव्यापी 'मैं' का अनिष्ट कर सकता है? इस प्रकार हमारी सम्पूर्ण दुर्बलता चली जाती है। तब दूसरों में भी उसी शक्ति को उद्दीप्त करना हमारा एकमात्र कार्य हो जाता है। हम देखते हैं, वे भी यही आत्म-स्वरूप हैं, पर वे यह जानते नहीं। अत: हमें उन्हें सिखाना होगा – उनके इस अनन्त-स्वरूप के प्रकाशनार्थ हमें उनकी सहायता करनी पड़ेगी। मैं देखता हूँ कि जगत् में इसी के प्रचार की सबसे अधिक जरूरत है।

ये मत अत्यन्त पुराने है, अधिकांश पर्वतों से भी पुराने। सभी सत्य सनातन हैं। सत्य व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति नहीं है। कोई भी जाति, कोई भी व्यक्ति उसे अपनी सम्पत्ति कहने का दावा नहीं कर सकता। सत्य ही सब आत्माओं का यथार्थ स्वरूप है। किसी भी व्यक्ति-विशेष का उस पर विशेष अधिकार नहीं है। किन्तु हमें उसे व्यावहारिक और सरल बनाना होगा, (क्योंकि सर्वोच्च सत्य अत्यन्त सहज और सरल होते हैं) जिससे वह समाज के हर रंध्र में व्याप्त हो जाय, उच्चतम मस्तिष्क से लेकर अत्यन्त साधारण मन द्वारा भी समझा जा सके और आबाल-वृद्ध-वनिता सभी उसे जान सकें। ये न्याय के कूट विचार, दार्शनिक मीमांसाएँ, सारे मतवाद और क्रिया-काण्ड – इन सबने किसी समय भले ही उपकार किया हो, किन्तु आओ, हम सब आज से – इसी क्षण से, धर्म को सहज बनाने की चेष्टा करें और उस सत्ययुग के पुनरागमन में सहायता करें, जब प्रत्येक व्यक्ति उपासक होगा और उसका अन्त:स्थ सत्य ही उसकी उपासना का विषय होगा।

वेदान्त कहता है कि ऐसा नहीं कि केवल वन या पहाड़ी गुफाओं में ही इसकी अनुभूति हो सकती है, वरन् पहले जिन लोगों ने इन सत्यों का आविष्कार किया था, वे वन या पहाड़ी गुफाओं में नहीं रहते थे, परन्तु वे सामान्य मनुष्य भी नहीं थे – वे ऐसे लोग थे, जो विशेष रूप से कर्मठ जीवन बिताते थे, जो सैन्य-संचालन करते थे, जिन्हें सिंहासन पर बैठकर प्रजावर्ग का हानि-लाभ देखना होता था। इसके अतिरिक्त उस समय राजागण ही सर्वेसर्वा थे – आज के जैसे कठपुतली नहीं। तो भी वे लोग इन तत्त्वों का चिन्तन करने, इन्हें जीवन में उतारने और मानव-जाति को शिक्षा देने का समय निकाल लेते थे। अत: उनकी अपेक्षा हम लोगों को इन सब तत्त्वों का अनुभव होना तो और भी सहज है, क्योंकि हमारा जीवन उनकी तुलना में अवकाश का जीवन है। हम अपेक्षाकृत सारे समय खाली ही रहते हैं, हमारे पास करने को बहुत कम रहता है, अत: हमारे लिए उस सत्य का साक्षात्कार न कर पाना बड़ी लज्जा की बात है। पुराने सम्राटों की तुलना में हमारी जरूरतें तो कुछ भी नहीं हैं। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में स्थित विराट् सेना के नायक अर्जुन की जितनी जरूरत थी, हमारी जरूरत उसकी तुलना में नगण्य है, तो भी उस युद्ध-कोलाहल के बीच भी, वे सर्वोच्च दर्शन को सुनने और उसे कार्यान्वित करने का समय पा सके – अत: अपने इस अपेक्षाकृत स्वाधीन आराममय जीवन में हमें उतना कर सकना चाहिए।

यदि हम लोग ठीक ढंग से समय बितायें, तो हम देखेंगे कि हम जितना सोचते-समझते हैं, उसकी अपेक्षा हमारे पास कहीं अधिक समय है। हमारे पास जितनी फुरसत है, उसमें यदि हम सचमुच चाहें, तो एक नहीं पचास आदर्शों का अनुसरण कर सकते हैं, किन्तु **आदर्श को हमें कभी नीचा नहीं करना चाहिए।** ऐसे लोगों से हमारे जीवन को सर्वाधिक विपत्ति की आशंका है, जो हमारे व्यर्थ अभावों और वासनाओं के लिए अनेक प्रकार के वृथा कारण दिखाते हैं और हम लोग भी सोचते हैं कि हम लोगों का इससे बड़ा और कोई आदर्श नहीं हो सकता, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। वेदान्त कभी इस तरह की शिक्षा नहीं देता। यथार्थ जीवन को आदर्श के साथ समन्वित करना पड़ेगा – वर्तमान जीवन को अनन्त जीवन के साथ एकरूप करना होगा।

हम जीवित ईश्वर की पूजा करना चाहते हैं। मैंने आजीवन ईश्वर के अलावा और कुछ नहीं देखा। तुमने भी नही देखा। इस कुर्सी को देखने से पहले तुम्हें ईश्वर को देखना पड़ता है, उसके बाद उसी में और उसके माध्यम से कुर्सी को देखना पड़ता है। वह दिन-रात जगत् में रहकर प्रतिक्षण 'मैं हूँ' 'मैं हूँ' कह रहा है। जिस क्षण तुम बोलते हो 'मैं हूँ', उसी क्षण तुम उस सत्ता को जान रहे हो।

तुम ईश्वर को कहाँ ढूँढ़ने जाओगे, यदि उसे अपने हृदय में, हर प्राणी में नही देख पाते? 'तुम स्त्री, तुम पुरुष, तुम कुमार, तुम कुमारी हो, तुम्हीं वृद्ध होकर लाठी के सहारे चल रहे हो, तुम्ही सम्पूर्ण जगत् में भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट हुए हो। तुम्हीं यह सब हो।' कितना अद्भुत 'जीवित ईश्वर' है – संसार में वही एकमात्र सत्य है। यह धारणा अनेक लोगों को उस परम्परागत ईश्वर से घोर विरोधात्मक लगती है, जो किसी विशेष स्थान में किसी पर्दे के पीछे छिपा बैठा है, और जिसे कोई कभी नहीं देख सकता। पुरोहित लोग हमें यही आश्वासन देते हैं कि यदि हम उनका अनुसरण करें, उनकी भर्त्सना सुनते रहें और उनके द्वारा निर्दिष्ट लीक पर चलते रहें, तो मरते समय वे हमें एक मुक्तिपत्र देंगे और तब हम ईश्वर-दर्शन कर सकेंगे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह स्वर्गवाद अनर्गल पुरोहित-प्रपंच के विविध रूपों के सिवा और कुछ नहीं है।

निर्गुणवाद निस्सन्देह अनेक चीजें नष्ट कर डालता है; वह पुरोहितों, धर्मसंघों और मन्दिरों के हाथ से सारा व्यवसाय छीन

लेता है। भारत में इस समय दुर्भिक्ष है, पर वहाँ ऐसे बहुत-से मन्दिर हैं, जिनमें से प्रत्येक में एक राजा को भी खरीद लेने योग्य बहुमूल्य रत्नराशि सुरक्षित है। यदि पुरोहित लोग इस निर्गुण ब्रह्म की शिक्षा दें, तो उनका धन्धा छिन जायगा। पर हमें यह शिक्षा नि:स्वार्थ भाव से, बिना पुरोहित-प्रपंच के देनी होगी। तुम भी ईश्वर, मैं भी वही – तब कौन किसकी आज्ञा पालन करे? कौन किसकी उपासना करे? तुम्हीं ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ मन्दिर हो; मैं किसी मन्दिर, प्रतिमा या ग्रन्थ की जगह तुम्हारी ही उपासना करूँगा। लोग इतना परस्पर विरोधी विचार क्यों करते हैं? वे कहते हैं, हम ठेठ प्रत्यक्षवादी है; ठीक बात है, पर तुम्हारी उपासना करने की अपेक्षा और अधिक प्रत्यक्ष क्या हो सकता है? मैं तुम्हें देख रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ और जानता हूँ कि तुम ईश्वर हो। मुसलमान कहते हैं – अल्लाह के सिवाय और कोई ईश्वर नहीं है; पर वेदान्त कहता है, ऐसा कुछ है ही नहीं जो ईश्वर न हो।

वेदान्त सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक ईश्वर का निरूपण करता है। इस राष्ट्र से तो राजराजेश्वर की विदाई हो चुकी है। लेकिन वेदान्त से तो स्वर्ग का साम्राज्य सहस्त्रों वर्ष पूर्व ही लुप्त हो गया था। ... वेदान्त केवल अध्यात्म से ही सम्बन्ध रखता है। ... ईश्वर आत्मा है और आत्मा एवं सत्य के द्वारा ही उसकी उपासना होनी चाहिए।

ये वे चीजें हैं, जिन्हें वेदान्त नहीं देता। कोई धर्मग्रन्थ नहीं। शेष मनुष्य जाति से पृथक् कोई मनुष्य नहीं, 'तुम कीट मात्र और हम जगदीश्वर' ऐसा कुछ नहीं। यदि तुम जगदीश्वर प्रभु हो तो मैं भी जगदीश्वर प्रभु हूँ। अत: **वेदान्त पाप नहीं मानता। भूलें जरूर हैं, लेकिन पाप नहीं।** कालान्तर में सब ठीक होनेवाला है। कोई शैतान नहीं – ऐसी कोई बकवास नहीं। वेदान्त के अनुसार जिस क्षण तुम अपने को या इतर जन को पापी समझते हो, वही पाप है। इसी से अन्य सब भूलों का सूत्रपात होता है, जिन्हें बहुधा पाप की संज्ञा दी जाती है। हमारे जीवन में अनेक भूलें हुई हैं। फिर भी आगे हम बढ़ते ही रहे हैं। हमसे भूलें हुईं, इसमें हमारा गौरव है ! बीते जीवन का सिंहावलोकन करो। यदि तुम्हारी आज की हालत अच्छी है, तो उसका श्रेय सफलताओं के साथ साथ पिछली भूलों को भी मिलना चाहिए। सफलता भी गौरव-शालिनी ! विफलता भी गौरव-शालिनी !

वेदान्त पाप और पापी नहीं मानता। वह (ईश्वर) एक ऐसी सत्ता है, जिससे हम कदापि आतंकित नहीं होंगे; क्योंकि वह हमारी अपनी आत्मा है। भय जगानेवाले ईश्वर का आतंक उसमें नही है। केवल एक ही सत्ता है, जिसमे हमें डर नही है, वह ईश्वर है। तो क्या ईश्वर से डरनेवाला प्राणी ही यथार्थ में सबसे बड़ा अन्धविश्वासी नही है? निज छाया से कोई भयभीत भले ही हो उठे, पर वह भी निज से संत्रस्त नहीं है। **ईश्वर मानव की ही आत्मा है।** वही एक ऐसी सत्ता है, जिससे तुम कभी भयभीत नहीं हो सकते। ईश्वर का भय व्यक्ति के अन्तर में घर कर जाय, वह उससे थर्रा उठे, ये सब बातें अनर्गल नहीं तो और क्या? ईश्वर की कृपा है कि हम सब पागलखाने में नहीं हैं! यदि हममें से अधिकांश पागल न हो गये हों, तो हम 'ईश्वरभीति' जैसी धारणा का आविष्कार ही क्यों करें? भगवान बुद्ध का कहना था कि सारी मानवता ही अल्पाधिक मात्रा में विक्षिप्त है। लगता है कि यह पूर्णत: सत्य है।

कोई धर्मग्रन्थ नहीं, कोई व्यक्ति नहीं, कोई सगुण ईश्वर नहीं। इन सबको जाना होगा। फिर इन्द्रियों को भी जाना होगा। हम इन्द्रियों के दास नहीं रह सकते। अभी हम हिमनदी में ठण्ड से ठिठुरकर मरनेवालों की भाँति आबद्ध हैं। वे निद्रा की ऐसी बलवती इच्छा से आक्रान्त हो जाते हैं कि जब उनके साथी उन्हें मृत्यु से सावधान करके जगाना चाहते हैं, तो वे कहते हैं, "जान जाय बला से। पर मेरी नींद में खलल मत डालो।" हम इन्द्रिय-सुख की छोटी-मोटी चीजों को पकड़े हुए हैं, भले ही उससे हमारा सर्वनाश ही क्यों न हो। हमने यह भुला दिया है कि जीवन में और अधिक महान् वस्तुएँ हैं।

वेदान्त की शिक्षा क्या है? प्रथमत: यह शिक्षा देता है कि सत्य-दर्शन के लिए तुम्हें अपने से भी बाहर जाने की जरूरत नहीं। सभी अतीत और सभी अनागत इसी वर्तमान में निहित हैं। कभी किसी ने अतीत को नहीं देखा। जब यह सोचते हो कि तुम अतीत को जानते हो, तो तुम केवल वर्तमान में ही अतीत की कल्पना करते हो। भविष्य देखने के लिए तुम्हें उसे वर्तमान में उतार लाना पड़ेगा, जो वर्तमान यथार्थ सत्य है – शेष सब कल्पना है। वर्तमान ही सब कुछ है। केवल वही 'एक' है – एकमेवाद्वितीयम्। जो कुछ है, सब इसी में है। अनन्त काल का एक क्षण दूसरे प्रत्येक क्षण की ही भाँति अपने में पूर्ण और सबको समाहित कर लेनेवाला है। **जो कुछ है, था और होगा, सब इसी वर्तमान में है।** इससे परे किसी कल्पना में कोई प्रवृत्त हो तो वह विफल मनोरथ होगा।

अत: वेदान्त का प्रतिपाद्य विश्व-बन्धुत्व नहीं, अपितु 'विश्व का एकत्व' है। जैसा एक मनुष्य है, एक जानवर है, वैसा ही मैं भी हूँ – बुरा, भला या और कुछ भी। हर परिस्थिति में यह एक ही देह, एक ही मन और एक ही आत्मा है। आत्मा का अन्त नहीं। कोई विनाश नहीं, देह का भी अन्त नहीं। मन भी मरता नहीं। देह का अन्त हो कैसे? एक पत्ती झड़ जाने से क्या पेड़ का अन्त हो जाएगा? यह विराट् विश्व ही मेरी देह है। सारे मन मेरे मन हैं। सबके पैरों से मैं ही चलता हूँ। सभी मुखों से मैं ही बोलता हूँ। सबके शरीर में मेरा ही निवास है।

❖ (क्रमश:) ❖

दुःख-नाश कैसे हो?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हमारा जीवन सुख और दुःख से भरा हुआ है। संसार जब तक अस्तित्व में है, तब तक सुख और दुःख दोनों बने रहेंगे। वे मानो एक सिक्के के दो पहलू हैं। ऐसी अवस्था जीवन में कभी नहीं आयेगी, जब केवल सुख ही सुख रहे और दुःख बिलकुल मिट जाय। तब फिर दुःखों के नाश का क्या तात्पर्य है। हमारे धर्मशास्त्र यह बताते हैं कि जिस प्रकार सुख और दुःख मन की अवस्थाएँ हैं, उसी प्रकार दुःख की निवृत्ति भी मन की ही अवस्था है। मन की यह अवस्था अभ्यास से ही प्राप्त की जाती है। श्री रामकृष्ण परमहस इसका एक सुन्दर उपाय बताते हैं। वे कहते हैं कि संसार में बड़े घर की दासी के समान रहो। यही दुःख-नाश का एकमात्र उपाय है। बड़े घर की दासी बाबू का सारा कामकाज करती है। बाबू के बच्चों को नहलाती है, सँवारती है, भोजन कराती है, घुमाने ले जाती है, 'मेरा राजा बेटा' कहकर दुलार करती है। यदि बाबू का बच्चा कहीं गिर पड़े, तो दासी 'मेरा लल्ला', 'मेरा मुन्ना' कहती हुई दौड़ पड़ती है, बच्चे को उठा लेती है, उसे पुचकारती और प्यार करती है। पर वह अपने मन में यह खूब जानती है कि वह उसका लल्ला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा नहीं है। वह यह खूब जानती है कि उसका लल्ला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा झोपड़ी में पड़ा रो रहा होगा। दासी यह अच्छी तरह से जानती है कि बाबू जिस दिन नोटिस दे देंगे, उस दिन से वह घर की दहलीज पर भी पैर न रख सकेगी। वह जिसे आज 'मेरा लल्ला, मेरा मुन्ना, मेरा राजा बेटा' कहकर गोद में उठाती है, उसे तब छू भी न सकेगी। तो क्या अपने बाबू के बच्चे के प्रति दासी यह जो प्रेम प्रदर्शित करती है, वह सब दिखावा है? नहीं, वह दिखावा नहीं है। दासी सचमुच बच्चे को प्यार करती है। पर उस प्यार में आसक्ति नहीं है।

आसक्ति न होने का कारण यह है कि उसमें बच्चे के प्रति मेरापन नहीं है, ममत्व नहीं है। ममत्व, मेरापन या आसक्ति के बिना भी प्रेम सम्भव होता है, और यही यथार्थ प्रेम है। आसक्ति-विरहित ऐसा प्रेम हमें दुःख से ऊपर उठाने की शक्ति रखता है।

इसीलिए श्री रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि बड़े घर की दासी की तरह रहो। घर-गृहस्थी है, स्त्री-पुत्र-कलत्र हैं - कोई दोष नहीं। सोचो कि वे सब भगवान् के दिये हुए हैं, अतएव भगवान् के हैं। सबको अपना कहो, प्रेम दिखाओ सबके प्रति। पत्नी को 'मेरी प्रिये' कहो, पति को 'मेरे प्रियतम' कहो, बच्चों को 'मेरे लाल', 'मेरी मुन्नी' कहो - कोई दोष नहीं, पर हृदय के अन्तरतम प्रदेश से यह जानो कि वास्तव में इनमें मेरा कोई भी नहीं है। ये सब भगवान् के हैं। जिस दिन भगवान् का नोटिस आ जायेगा, कोई मेरा न रह जायेगा। सब मुझे छोड़कर चले जायेंगे या मैं ही सबको छोड़कर चला जाऊँगा। वास्तव में यदि कोई मेरा अपना है, तो वे हैं ईश्वर। यदि कोई मेरी झोपड़ी है, तो वह है प्रभु के चरण। यह ज्ञानदीप भीतर जलाये रखो। यही ससार में रहने का रहस्य है। इसी ज्ञान से दुःख की निवृत्ति होती है। यही बड़े घर की दासी के समान ससार में रहना है। मन पर इस विचारधारा का बार बार सस्कार डालना ही अभ्यास कहलाता है।

जब यह अभ्यास सध जाता है, तब सब कुछ ईश्वरमय हो जाता है। किसी प्रियजन की मृत्यु हो गयी - वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि किसी कार्य में सफलता मिली तो वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि कोई कार्य न सधा तो वह भी भगवान् की इच्छा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐसा साधक निश्चेष्ट हो जाय, आलसी हो जाय, अकर्मण्य होकर कहने लगे कि प्रयत्न से क्या होगा, सब कुछ तो ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि साधक क्रियाशील बने, प्रबल कर्मपरायण हो। यदि कोई मृत्यु की शैय्या पर पड़ा हो, तो उसे बचाने के लिए वह अथक प्रयत्न करे और अगर बचा न सके तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। कार्य की सिद्धि के लिए जी-तोड़ परिश्रम करे, पर यदि सफलकाम न हो तो कहे कि ईश्वर की इच्छा है। यही रसायन है, जो दुःख पर मरहम का कार्य करता है। हम अपना सारा उत्तरदायित्व ईश्वर को सौंप देते हैं। इसीलिए हमें दुःख नहीं व्यापता। मुनीम साहूकार के व्यापार को चमकाने की अथक चेष्टा करता है। यदि साहूकार को घाटा हो गया तो मुनीम दुखित अवश्य होता है, पर घाटे का दुःख उसे व्याप्त नहीं कर पाता, क्योंकि घाटा या लाभ उसका नहीं है। वह तो साहूकार का है। उसी प्रकार, ससार मेरा नहीं है, ईश्वर का है : परिवार मेरा नहीं है, ईश्वर का है : मैं तो एक मुनीम हूँ, भृत्य हूँ। यह भक्तियोगी की, कर्मयोगी की भाषा है। मन की इसी अवस्था में दुःखों का नाश सम्भव है। ❑

अंगद-चरित (८/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके आठवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

अंगद विविध संकेतों तथा वाणी के द्वारा यही प्रयत्न करते हैं कि किसी तरह से रावण की दृष्टि बदल जाय और वह अपने दुर्गुणों को छोड़कर भगवान की शरण में चला जाय। वैसे रावण पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि जो अधिक-से-अधिक प्रयत्न किया जा रहा है उसका तात्त्विक सामाजिक सन्दर्भ में तात्पर्य यह है कि हर व्यक्ति में सुबुद्धि और कुबुद्धि दोनों विद्यमान हैं –

सुमति कुमति सब कें उर रहहीं।
नाथ पुरान निगम अस कहहीं।। ५/४०/५

रावण के हृदय में जो सुप्त सद्‌बुद्धि है, उसे यदि किसी प्रकार से जगाया जा सके और वह अपनी कुमति का परित्याग करके सुमति के संकेत को हृदयंगम कर ले, तो इससे बढ़कर रावण के लिए और संसार के लिए कल्याण की बात और कुछ हो नहीं सकती।

रावण के हृदय में भी सुमति है। उसका परिचय रामायण के कई प्रसंगों में मिलता है। जब सूर्पणखा के द्वारा रावण को यह समाचार मिलता है कि राम और लक्ष्मण ने खर तथा दूषण का संहार कर दिया है, तो उस समय रावण के हृदय में पहले सुमति का सन्देश ही तो आया और वह सुमति तो रावण को प्रेरित कर रही थी – खर और दूषण मेरे ही समान बलवान हैं और मेरे इन भाइयों को भगवान के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं मार सकता, इससे लगता है कि साक्षात् भगवान ही अवतार ले श्रीराम के रूप में आए हुए हैं –

खर दूषन मोहि सम बलवंता।
तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता।। ३/२३/२

यह सुमति का संकेत था, जो रावण को प्रारम्भ में मिला, पर रावण की समस्या यह है कि उसका हृदय मोह से इतना मलिन है कि वह इस सत्य को धारण करने में समर्थ नहीं है। उसका अहंकार इतना प्रबल है कि उस सुमति के संकेत को भी आत्म-प्रवंचना करके अस्वीकार कर देता है।

'मानस' में एक सूत्र मिलता है। प्रारम्भ में इसे वर्षा और भूमि के दृष्टान्त के द्वारा दिया गया है। वर्षा का जल बिल्कुल स्वच्छ रहता है, पर जब वह भूमि पर गिरता है तो भूमि पर पड़ी गन्दगी से मिलकर गन्दा हो जाता है। मगर भूमि यदि खूब स्वच्छ हो, यदि भूमि पर पत्थर के फर्श लगे हों और वह बिल्कुल स्वच्छ हो, तो वहाँ पर जो वर्षा का जल गिरेगा वह स्वच्छ ही रहेगा, गन्दा नहीं होगा। पर इतने से ही नहीं होगा। **भूमि में दो गुण होने चाहिए – भूमि स्वच्छ हो और उसमें गहराई हो।** भूमि स्वच्छ रहेगी, तो जल स्वच्छ रहेगा, परन्तु यदि भूमि में गहराई नहीं होगी, तो जल टिकेगा नहीं, बह जाएगा। वैसे ही बुद्धि की भूमि भी स्वच्छ होनी चाहिए और गहराई? इसका सूत्र बाल-काण्ड के प्रारम्भ में मिलता है –

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।
बेद पुरान उदधि घन साधू।।
बरषहिं राम सुजस बर बारी।
मधुर मनोहर मंगलकारी।। १/३६/३-४

बुद्धि स्वच्छ हो पवित्र हो और हृदय की गहराई हो, इन दोनों के सामंजस्य की अपेक्षा है। बुद्धि यदि मलिन होगी, तो व्यक्ति से जो बात कही जाएगी, उसे वह समझ नहीं सकेगा। पर बुद्धि यदि स्वच्छ हो, सूक्ष्म हो, पैनी हो, तो समझाने पर व्यक्ति समझ तो लेगा, लेकिन यदि उसके हृदय में धारण करने की क्षमता नहीं है, तो तत्काल उसे बहा देगा। इसका अभिप्राय यह है कि इन दोनों के सामंजस्य की अपेक्षा है, **बुद्धि पैनी और हृदय विशाल हो।**

अब रावण की समस्या क्या है? वैसे उसकी बुद्धि तो पैनी दिखाई दे रही है। भगवान के अवतार का संकेत उसे सचमुच ही मिल गया, पर उसका हृदय मोह से इतना मलिन है कि वह सत्य को धारण करने में समर्थ नहीं है। उसका अहंकार इतना प्रबल है कि सुमति के इस संकेत को वह अपने कुतर्क से उड़ा देता है, स्वयं को भुलावा देता है और उस सत्य को स्वीकार नहीं करता। रावण के चरित्र का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि बड़ी पैनी बुद्धि के होते हुए भी अपने हृदय की मलिनता के कारण वह सर्वदा उन सत्यों की उपेक्षा करता रहा और उसका आचरण वस्तुत: सुमति के संकेत से प्रेरित न होकर वासनाओं तथा दुर्गणों से प्रेरित था।

इसका अभिप्राय यह है कि रावण के हृदय में जब सत्य का प्रकाश हुआ कि भगवान का अवतार हो गया है, तो यह सत्य भी रावण के हृदय में अन्तर्यामी ईश्वर ही बता रहे थे और

अप्रत्यक्ष रूप से भी विविध माध्यमों से ईश्वर ही संकेत कर रहे थे। हनुमान जी द्वारा अंगद को दूत बनाकर भेजना, इन सबका उद्देश्य यही था कि रावण अपने हृदय की दुर्वासनाओं का परित्याग कर दे।

श्री राघवेन्द्र रावण के विरुद्ध जो युद्ध करते हैं, वह यदि केवल दो राजाओं का संघर्ष होता, तो श्रीराम यही प्रयत्न करते कि यथाशीघ्र रावण का विनाश हो। पर भगवान जब जान-बूझकर विलम्ब करते हैं, तो इसका उद्देश्य वस्तुत: रावण को अवसर देना था। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के विरुद्ध कोई व्यक्ति बुरा नहीं होता, उसके अन्त:करण की वासनाएँ ही उसे अन्धकार की दिशा में ले जाती हैं। श्रीराम का रावण से जो व्यक्तिगत सम्बन्ध है, उसमें रंचमात्र भी द्वेष नहीं है, बल्कि रावण को बचा लेने का ही प्रयत्न हो रहा है। पर रावण का दुर्भाग्य यह है कि वह बुराइयों को छोड़ने के लिए प्रस्तुत नहीं है। भगवान यह जो अन्तिम प्रयास करते हैं, पहले हनुमान जी को भेजते हैं, बाद में विभीषण जी द्वारा भी रावण के सुमति को चैतन्य करने की चेष्टा की जाती है, शुक और सारण के द्वारा भी रावण को बदलने की चेष्टा की जाती है और उसके बाद सुवैल शैल से भगवान श्रीराम ने बाण चलाकर उसके छत्र, मुकुट आदि गिरा दिया। यह मानो प्रभु के बाण द्वारा दिया गया सन्देश था, जिसे मन्दोदरी ने हृदयंगम किया, पर जब रावण इन सारे सन्देशों की उपेक्षा करता रहा, तो सबसे अन्त में अंगद को भेजा गया।

इसका अभिप्राय यह है कि इतने प्रयत्न के बाद भी यदि रावण अपनी बुराइयों को छोड़ने के लिए प्रस्तुत नहीं है, तब क्या होगा? जैसे किसी अंग में फोड़ा हो जाता है, तो पहले तो उस फोड़े को ही मिटाने की चेष्टा की जाती है, लेकिन वह फोड़ा कभी कभी इतना घातक हो जाता है कि सारे अंग को ही अपने विष से दूषित कर देता है। तब शल्य-चिकित्सक को यह निर्णय लेना पड़ता है कि अब तो इस पूरे अंग को ही काट देना होगा। अत: जब अंगद राजदूत बनाकर भेजे गए, तो यह रावण को बदलने का अन्तिम प्रयास था। इस प्रक्रिया में राजनीति के माध्यम से, चतुराई और संकेतों के माध्यम से अंगद ने रावण को समझाने की चेष्टा की। इसमें दो संकेत अंगद के द्वारा मुख्य रूप से दिए गए। एक संकेत तो यह था कि रावण की सभा में उन्होंने अपने मुक्के का प्रहार किया। उस मुक्के के प्रहार से रावण अपने सिंहासन से मुँह के बल नीचे गिर गया। दूसरा संकेत यह था कि वे रावण की सभा में अपना पैर रोप देते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि रावण, तुम या तुम्हारी सभा का कोई भी सदस्य यदि मेरे पैरों को हिला देगा, तो मैं सीताजी को हार जाऊँगा और श्रीराम लौट जाएँगे।

अंगद के ये दोनों कार्य एक-दूसरे के पूरक हैं। पूरक इस दृष्टि से कि अंगद रावण को यह बता देना चाहते हैं कि वास्तव में अचल क्या है और चल क्या है। अंगद ने पहले मुष्टि-प्रहार के द्वारा रावण को बताया कि रावण, जिस सिंहासन और जिस सत्ता पर तुम्हें इतना गर्व है, वह सिंहासन और सत्ता अचल नहीं है कि ज्यों-की-त्यों बनी रहे। व्यक्ति गर्व करता है कि यह अचल है। इस तरह से पहले तो अंगद ने दिखा दिया कि जिस सत्ता को तुम अचल समझ बैठे हो, वह कितनी चंचल है। समय की प्रतिकूलता आ जाने पर, ईश्वर की प्रतिकूलता आ जाने पर बड़ा-से-बड़ा सत्ताधीश भी सिंहासन से मुँह के बल गिर पड़ता है।

उसके बाद अंगद ने एक कार्य और किया। रावण जब मुँह के बल गिरा तो उसके सिर पर जो मुकुट थे, वे भी उछल कर नीचे जा गिरे। तब अचानक अंगद और रावण ने उन मुकुटों की ओर हाथ बढ़ाये। वहाँ पर दस मुकुट थे। रावण के हाथ में छ: मुकुट आ गए और अंगद के हाथ में चार। अब रावण के हाथ में जब छ: मुकुट आ गए, तो उसने इसका अपने स्वभाव के अनुकूल ही अर्थ निकाला। उसने बड़े गर्व से अपनी सभा के सदस्यों की ओर देखा। अब कोई रावण से पूछे कि अपने मुकुट छिन जाने से आपको इतनी प्रसन्नता क्यों हो रही है? तो रावण कहता – शास्त्र कहता है कि सर्वस्व जाते देख जो आधा बचा ले, वह महान् पण्डित है। रामायण में उसी का अनुवाद किया गया है –

अरध तजहिं बुध सरबस जाता। २/२५६/२

रावण का अभिप्राय यह है कि यदि मैं पाँच मुकुट बचा लेता, तो पण्डित कहलाता, पर मैंने तो छ: बचा लिये, तो मुझसे बड़ा पण्डित कोई है ही नहीं।

इसका तात्पर्य यह है कि रावण इस घटना का ऐसा अर्थ लेता है जो अंगद के संकेत से बिल्कुल विपरीत है। संकेत का अर्थ लगाना तो आपके हाथ में है, आप उसका मनमाना चाहे जो अर्थ लगा लीजिए। रावण ने इसी में अपना पाण्डित्य देखा। इतना ही नहीं, रावण ने बड़ी हड़बड़ी में उन मुकुटों को उठाकर अपने सिर पर लगा लिया। कितना बेढंगा दृश्य रहा होगा? रावण के दस सिर हैं। अब दसों सिर खुले रहें, तो भी ठीक, यह भी एक पद्धति है। या फिर दसों पर मुकुट हों तो भी शोभा है। पर अब छ: के ऊपर मुकुट और चार सिर खाली हों, तो कितना बेतुका लग रहा होगा।

इसका अर्थ है कि रावण तो सत्ता में इतना आसक्त है कि उसकी दृष्टि अपनी इस अशोभनीयता पर भी नहीं जाती। उसे सत्ता को पकड़ने की इतनी हड़बड़ी है, इतनी व्यग्रता है कि वह मुकुट को उठाकर तुरन्त सिर पर लगा लेता है। भले ही वह दृश्य देखने में भद्दा लगे, पर उसे रंचमात्र भी लज्जा और संकोच की अनुभूति नहीं होती। परन्तु अंगद की दृष्टि यहाँ कितनी सुन्दर है। उनके पास तो चार मुकुट आ गए। अब अंगद भी अगर अहंकारी होते तो व्याख्या कर लेते कि चलो,

मेरा तो एक ही सिर है और मुकुट चार हाथ लग गए, बहुत अच्छा हुआ, अब ये मुकुट रोज अदल-बदलकर लगाते रहेंगे, आज एक, कल दूसरा, परसों तीसरा। लेकिन अंगद ने जो कार्य किया, वह स्वयं अंगद के लिए भी सन्देश था।

उन मुकुटों को अंगद ने अपने सिर पर नहीं लगाया, अपितु उन्हें उठाकर जहाँ पर भगवान राम विराजमान थे, जोरों से उसी ओर फेंक दिया। मुकुट इतने तेजोमय थे कि देखकर लग रहा था मानो सूर्य का दिव्य प्रकाश हो रहा हो। बन्दर उसे देखकर पहले तो भयभीत हो गए कि कहीं रावण ने हम लोगों को मारने के लिए कोई शस्त्र तो नहीं चला दिया है! प्रभु ने मुस्कराकर कहा – नहीं, नहीं, आप लोग डरिए मत – ये रावण के मुकुट अंगद की प्रेरणा से आ रहे हैं –

ए किरीट दसकंधर केरे।
आवत बालितनय के प्रेरे।। ६/३२/१०

यह शब्द भी कितना सार्थक है? भगवान राम यह भी कह सकते थे कि अंगद ने फेंका है, पर बोले – अंगद की प्रेरणा से आ रहे हैं। अब प्रेरणा और आने की बात तो चैतन्य के सन्दर्भ में ही की जाती है, परन्तु जड़ वस्तु के लिए तो 'फेंकना' ही कहा जाता है। लेकिन भगवान राम ने उसे चैतन्य के सन्दर्भ में ही लिया। उन्होंने उसकी जड़मूलक व्याख्या नहीं की। भगवान ने उन मुकुटों में चैतन्यता देखी।

जड़ और चेतन की परिभाषा क्या है? कुछ वस्तुओं को हम लोग जड़ मानते हैं। जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी – इन्हें स्वभाव से ही जड़ माना जाता है –

गगन समीर अनल जल धरनी।
इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी।। ५/५९/२

यह विभाजन क्या ठीक है? गोस्वामी जी कहते हैं – नहीं, क्योंकि कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो चैतन्य दिखाई देते हुए भी आचरण से जड़ हैं और जिन्हें हम जड़ कहते हैं, उनमें भी ऐसी स्थिति आ सकती है कि वह चैतन्य हो उठे। वस्तुत: यह जड़ और चेतन का विभाजन वास्तविक नहीं है, क्योंकि इस जड़त्व में भी चैतन्य तत्त्व तो विराजमान है ही। जहाँ पर यह चैतन्य तत्त्व प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता, उसे हम जड़ कहते हैं, पर उसमें भी चैतन्य तत्त्व छिपा हुआ है। उस चैतन्य तत्त्व का साक्षात्कार करने की, उसे प्रगट करने की शक्ति हममें नहीं है।

हमारे यहाँ मूर्तिपूजा की परम्परा है, इसका अर्थ क्या है? प्रत्यक्ष रूप में देखें तो मूर्ति जड़ है और कितना विचित्र लगता है कि पूजा करनेवाला व्यक्ति तो चैतन्य दिखाई दे रहा है और जिसकी पूजा की जा रही है, वह मूर्ति जड़ दिखाई दे रही है। तो क्या वह चैतन्य के द्वारा जड़ की पूजा है? ऐसा तो केवल उसी को दिखाई देता है, जो केवल बहिरंग दृष्टि से देखनेवाला है, पर उसका तात्त्विक अभिप्राय यह है कि सच्ची चैतन्यता की जो समग्र अनुभूति है, वह जब तक बँटी हुई है, तब तक तो हमने सत्य को देखा ही नहीं। अब जो प्रश्न है कि जो वस्तुएँ हमें जड़ के रूप में दिखाई देती हैं, उनमें चैतन्य तत्त्व है या नहीं? इसका एक संकेत मैं यहाँ पर देना चाहूँगा।

हमारे यहाँ जो मूर्तिपूजा की परम्परा है, उसमें पहले तो मूर्ति बनाई जाती है। अब आप मूर्ति-निर्माण की जो पद्धति है, उस विचार कीजिए। एक पत्थर के टुकड़े को छेनी-हथौड़ी से तोड़-तोड़कर टुकड़े-टुकड़े किया जा सकता है, कंकड़ के रूप में परिणत किया जा सकता है। उस पत्थर के टुकड़ों को चाहे आप मकान या सड़क बनाने अथवा चाहे जैसा उपयोग कर सकते हैं, लेकिन पत्थर जो कंकड़ बनकर साधारण व्यवहार में आता है, वही यदि एक मूर्तिकार को दे दिया जाय, तो वह उसी छेनी-हथौड़ी से उस पत्थर से एक मूर्ति को व्यक्त कर देगा। इस मूर्ति को व्यक्त करने की शैली क्या है? मूर्ति पहले बाहर प्रगट होगी कि भीतर? वस्तुत: मूर्ति पहले मूर्तिकार के हृदय में आएगी। पहले वह हृदय में रूप धारण करेगी। अब मूर्तिकार के पास एक विशेष कला यह है कि वह अपने हृदय में जिस मूर्ति की कल्पना कर रहा है, देख रहा है, उसे वह बाहर प्रगट कर सकता है। वैसे यह कोई सरल कार्य नहीं है, बड़ा कठिन कार्य है। हम लोग मन तक तो जा सकते हैं, हम लोगों से यदि कहा जाय कि आप एक सुन्दर व्यक्ति की कल्पना की कीजिए, तो सुन्दर व्यक्ति की कल्पना तो हम कर लेंगे, पर यदि कहा जाय कि आपके अन्त:करण में जो सुन्दर मूर्ति है, उसे चित्र या मूर्ति के रूप में प्रगट करके दिखाइये, तो व्यक्ति बेचारा कहेगा – भाई, यह क्षमता तो हममें नहीं है।

वैसे ही ईश्वर जो अन्तर्यामी के रूप में विद्यमान हैं, उनका रूप, उनकी मूर्ति, जब भी प्रगट होगी, तो पहले मूर्तिकार के हृदय में प्रगट होगी। और तब वह मूर्तिकार उसे बाहर मूर्ति के रूप में प्रगट करता है। भक्त और साधक के जीवन मे भी जो ईश्वर प्रगट होगा, वह पहले बाहर मूर्ति में प्रगट नहीं होगा, पहले भक्त के हृदय में प्रगट होगा। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की भावना उस अव्यक्त ईश्वर को व्यक्त कर देती है। जैसे मूर्तिकार के पास यह कौशल है कि वह छेनी-हथौड़ी के द्वारा उस मूर्ति को बाहर प्रगट कर देता है, भगवान शंकर, विष्णु या रामकृष्ण आदि रूपों में उन्हें प्रगट कर देता है। उसके हृदय में जिस चैतन्य तत्त्व की भावना थी, उसका जो रूप था, वह उस पत्थर के टुकड़े के भीतर, उस मूर्ति में पहले से ही छिपा हुआ था, अब प्रगट हो गया। उसी मूर्ति में मानो चैतन्य छिपा हुआ था। उसी में कंकड़ भी है और उसी में मूर्ति भी। उस पत्थर का आप कंकड़ बना लीजिए, तो उसका साधारण व्यवहार कीजिए और यदि आपको चैतन्य तत्त्व का भान हो, तो उसमें वही दिखाई देगा, वही प्रगट होगा।

मूर्ति बनाने के बाद उसमें जो प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, उसका क्या अभिप्राय है? यह कि भक्त के अन्त:करण में जो भावना है, जो श्रद्धा है, जो इस सत्य को जानता है कि केवल जड़ ही दिखाई देना भ्रान्ति है। जड़ तत्त्व में भी सर्वत्र चैतन्य ही प्रकाशित हो रहा है। इस सर्वव्यापी चैतन्य की ओर इंगित करना ही प्राण-प्रतिष्ठा का तात्पर्य है।

रामायण में एक संकेत पर आपका ध्यान गया होगा। वहाँ बताया गया है कि भगवान राम समुद्र से वार्तालाप कर रहे हैं। जब हनुमान जी आग से लंका को जलाने लगे तो सारी लंका जल गई, पर विभीषण का घर नहीं जला। इसका अभिप्राय क्या हुआ? जिन्हें जड़ पदार्थ कहा जाता है, उनका व्यवहार क्या जड़ की तरह है? जब हनुमान जी समुद्र लांघकर जा रहे थे, तब तो समुद्र का व्यवहार जड़ की तरह नहीं था। समुद्र ने हनुमान जी को जाते हुए देखा। तो समुद्र हम लोगों को छलाँग लगाते हुए देख सकता है। पर यदि हम और आप समुद्र में छलाँग लगाएँ, तो सीधे आत्महत्या की स्थिति होगी। परन्तु हनुमान जी छलाँग लगा रहे हैं और – समुद ने उन्हें श्री रघुनाथ का दूत समझकर तत्काल मैनाक पर्वत से कहा – तू इनकी थकावट दूर कर दे –

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी।
तैं मैनाक होहि श्रम हारी ।। ५/१/९

अब यह मैनाक पर्वत जड़ है या नहीं? इस सारे यात्रा क्रम में यह बताया गया कि इन जड़ तत्त्वों ने हनुमान जी से जो व्यवहार किया वह जड़ तत्त्वों की तरह नहीं, बल्कि चैतन्य की तरह किया। समुद्र ने हनुमान जी का स्वागत किया। इसीलिए तो विभीषण ने भगवान राम से जब कहा – महाराज, आप समुद्र के किनारे बैठकर प्रार्थना कीजिए, तो विभीषण जी का यह विश्वास था कि जब समुद्र ने भगवान के भक्त का इतना स्वागत किया, तो भगवान का तो करेगा ही। यद्यपि यह अनुभव कुछ समय के लिए उल्टा लगा।

हनुमान जी का स्वागत तो समुद्र ने बड़े उत्साह से किया, पर जब भगवान आसन पर बैठे थे, तब वह तीन दिन तक कहीं दिखाई नहीं दिया। यह तो एक अलग विषय है, पर इसका तात्त्विक अर्थ यह है कि जड़ और चेतन का यह बहिरंग विभाजन केवल स्थूल व्यवहार की दृष्टि से किया गया है, आध्यात्मिक दृष्टि से तो चैतन्य तत्त्व इतना व्यापक है कि जिन्हें हम जड़ कहते हैं, चैतन्य तत्त्व के पूर्ण बोध की अवस्था में वे सभी चैतन्य दिखाई देने लगते हैं। उस चैतन्य भावना से जिन्हें हम जड़ पदार्थ कहते हैं, वे भी चैतन्य हो उठते हैं।

ऐसी स्थिति में अंगद ने जब मुकुट फेंके; तो साधारण दृष्टि से तो वे मुकुट सोने, हीरे, मोती के बने हुए हैं, जिन्हें हम जड़ कहते हैं।

इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि जो लोग चेतन होकर भी भगवान से दूर जाते दिखाई दे रहे हैं, वे कौन हैं? – वे जड़ जीव तो अपनी आत्मा की हत्या करनेवाले हैं –

ते जड़ जीव निजात्मक घाती। ७/५३/६

इसका अभिप्राय है कि वे चेतन के रूप में जड़ है और जो जड़ दिखाई देते हुए भी ईश्वर की ओर जाते हुए दिखाई दे रहे हैं, वे? मानो भगवान कहते हैं – "मुकुटों को अंगद ने प्रेरणा दी और उनकी प्रेरणा पाकर, स्पर्श पाकर ये मुकुट चैतन्य हो गए। अंगद ने प्रेरणा देकर इन मुकुटों को मेरी ओर भेजा है।" तब किसकी भूमिका आई? हनुमान जी बड़े प्रसन्न हुए। इन दोनों महान् पात्रों – अंगद जी और हनुनान जी का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अंगद जी ने जो मुकुट फेंके, वे नीचे गिरे या नहीं? कोई भी वस्तु यदि ऊपर फेंकी जाय, तो वह नीचे गिरेगी ही। अंगद ने जो मुकुट फेंके, वे नीचे गिर तो पड़ते, परन्तु ज्योंही प्रभु ने कहा – ये तो रावण के मुकुट हैं, जो बालिपुत्र की प्रेरणा से आ रहे हैं –

ए किरीट दसकंधर केरे।
आवत बालितनय के प्रेरे ।। ६/३२/१०

सुनते ही हनुमान जी उछल पड़े। हनुमान जी की भावना क्या थी? जो भगवान के पास आ रहा है, उसे तो गिरना ही नहीं चाहिए। हनुमान जी ने उछलकर उन्हें बीच में ही पकड़ लिया। इसका अभिप्राय यह है कि एक सन्त ने प्रेरणा दिया और दूसरे सन्त ने सद्गुरु के रूप में उन्हें अपना लिया, अपने हाथों में ले लिया और प्रभु के चरणों में रख दिया।

अंगद ने मुकुटों को फेंक क्यों दिया? अंगद से किसी ने पूछा – आप तो युवराज है, सिंहासन पर बैठने के लिए वे मुकुट रख क्यों नहीं लिये? इस पर अंगद बोले – "जब मैंने देख लिया कि यह मुकुट रावण के सिर पर नहीं टिका, तो और किसी के सिर पर भी क्या टिकेगा! यह मुकुट टिकने वाली वस्तु नहीं है। इसलिए इसे तो भगवान के चरणों में ही अर्पित कर देना चाहिए।" वस्तुत: अंगद का उद्देश्य यह था कि इन मुकुटों का भी कल्याण हो।

अपने पद का चिह्न मानकर मुकुट धारण करना एक बात है और सत्ता के पद को भगवान के पद से जोड़ देना, यह दूसरी मनोवृत्ति है। अंगद ने मानो यही संकेत किया कि सत्ता जब तक संसार में केवल प्रदर्शन की वस्तु है, जब तक वह ईश्वर से दूर है, तब तक वह चल ही रहेगी। उसमें अचलता तभी आएगी, जब हम उसे ईश्वर के चरणों में अर्पित कर दें। ऐसी स्थिति में वह जो मुकुट है, वह जो पद है, जो अब तक केवल प्रदर्शन की वस्तु है, वह भगवान के चरणों से जुड़कर धन्य हो जाता है। इस प्रकार **जहाँ रावण में छीना-झपटी की वृत्ति है, वहीं अंगद में समर्पण की वृत्ति है।**

ये दो ही प्रकार के लोग होते हैं। कुछ लोग निरन्तर सत्ता की छीना-झपटी में विश्वास करते हैं और दूसरी ओर अंगद की यह दृष्टि है कि वस्तुत: व्यक्ति को सेवक बनकर कार्य चलाना चाहिए, स्वामी बनकर नहीं। अंगद युवराज के रूप में राज्य चलाते हैं, पर कभी भी स्वयं को स्वामी मानकर नहीं; सेवक मानकर ही वे अपना कर्तव्य निभाते हैं।

अंगद ने स्वयं रावण को भी संकेत दे दिया कि तुम जिसे अचल मानते हो वह अचल नहीं है, देख लो, वह कितना चल है। रावण के मुकुट को उन्होंने प्रभु के चरणों की ओर प्रेरित कर दिया और हनुमान जी ने उन्हें प्रभु के चरणों में पहुँचा दिया। अंगद की भावना कितनी सुन्दर थी। जब अंगद लौटकर आए, तो प्रभु ने पूछ दिया – "अंगद ! बड़ा आश्चर्य है, तुमने इतना अद्भुत कार्य कैसे किया? रावण के सिर से तुमने मुकुट उतार लिये। और फिर उतारे, तो चार ही क्यों उतारे, उसके तो दस सिर थे? अंगद ने कहा – नहीं महाराज, उतारे तो पूरे दस थे, पर बँटवारा हो गया। – कैसे? बोले – "हर व्यक्ति में अच्छाई और बुराई होती है। रावण में छह बुराइयाँ थीं, जो उसके पास वापस चली गईं और उसमें चार अच्छाइयाँ थीं, वे आपके चरणों में चली आईं।" हमारे यहाँ छह विकार माने जाते हैं – काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। और चार सद्गुण हैं – साम, दाम, दण्ड और भेद –

मुकुट न होहिं भूप गुन चारी ।।
साम दान अरु दंड बिभेदा ।
नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ।।
नीति धर्म के चरन सुहाए। ६/३८/८-१०

वही चैतन्य की भावना। अंगद ने कहा – प्रभो, मैंने नहीं भेजे। इसका अभिप्राय क्या है? भले ही सन्त प्रेरणा देकर ईश्वर की दिशा में जाने के लिए कहें, पर वे स्वयं को उद्धारक मान लें तो उनमें गर्व आए बिना नहीं रहेगा। अंगद ने कहा – "महाराज, ऐसी बात नहीं कि उन्हें मैंने आपके पास पहुँचा दिया हो। उसमें मेरा कोई प्रयत्न नहीं था। ये गुण तो स्वयं ही रावण को छोड़ने के लिए इतने व्यग्र थे कि ये स्वयं ही उसका परित्याग करके आपके पास चले आए।"

इसका सांकेतिक अभिप्राय यह था कि राजा में राजनीति के ये चार गुण होने चाहिए। लेकिन राजनीति के चार गुणों का तात्पर्य क्या है? समाज में अलग अलग प्रकार के व्यक्ति होते हैं। इन भिन्न भिन्न प्रकार के व्यक्तियों से काम लेने के लिए भिन्न भिन्न नीतियों का प्रयोग होना चाहिए। कुछ लोग बुद्धिमान होते हैं, जो समझाने पर समझ जाते हैं। उन्हें साम-नीति से प्रेरणा देनी चाहिए। कुछ लोग स्वभाव से ही लोभी होते हैं। उन्हें प्रलोभन के द्वारा ही सही दिशा में ले जाने की चेष्टा की जानी चाहिए। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो बिना दण्ड के अच्छा काम या सदाचरण नहीं करते। ऐसे लोगों के प्रति दण्ड का व्यवहार करना चाहिए। और कुछ लोग स्वयं तो उतने बुरे नहीं होते, अकेले समाज का कोई अधिक कल्याण नहीं कर पाते, पर जब वे बुरे व्यक्तियों के साथ मिल जाते हैं, तब समूह के रूप में ऐसे लोग समाज में बड़ी अशान्ति पैदा कर देते हैं। ऐसी स्थिति में ऐसे लोग संगठित न हो सकें, उनमें एकता न हो सके, इसलिए उनमें दूरी उत्पन्न करने के लिए भेदनीति का प्रयोग करना चाहिए। यह नीति का चौथा अंग है। रावण ने चारों नीतियों का प्रयोग किया, पर उसका दुर्भाग्य यह था कि उसे जहाँ पर जिस नीति का प्रयोग करना चाहिए, वहाँ पर उसे न करके, जो नहीं करना चाहिए था, उसका प्रयोग किया।
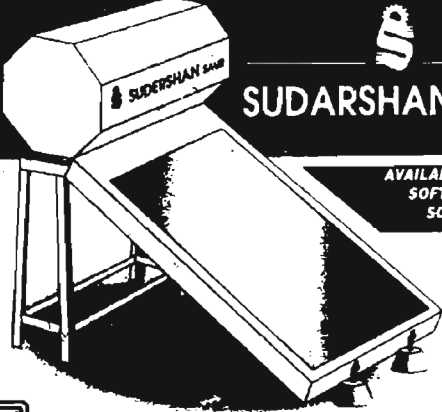
अंगद के चरण को गोस्वामी जी ने कई सन्दर्भों में प्रस्तुत किया है। यहाँ पर तीन प्रकार से उसकी व्याख्या की गई है – ज्ञान के सन्दर्भ में, भक्ति के सन्दर्भ में और धर्म के सन्दर्भ में। धर्म के सन्दर्भ में उन्होंने दोहावली रामायण में कहा –

भूमि रुचिर रावन सभा अंगद पद महिपाल ।
धरम राम नय सील बल अचल होत सुभ काल ।। ५१

यह पृथ्वी ही मानो रावण की सभा है और राजसत्ता ही अंगद का पद है। सीता मूर्तिमती नीति हैं और राम मूर्तिमान धर्म। गोस्वामी जी कहते हैं कि जब किसी राजा को धर्म और नीति दोनों का संयुक्त बल प्राप्त हो जाता है, तो उसका पद अचल हो जाता है। ❖ (क्रमश:) ❖

समय होत बलवान

स्वामी सत्यरूपानन्द

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन उनके अभी के चिन्तन, उनके आज और अभी के कर्म तथा आचरण के अनुसार होगा। यदि उनका आज और अभी का अर्थात् वर्तमान का चिन्तन शुभ और उदात्त होगा, कर्म अच्छे और परोपकारी होंगे तो उनका आज का जीवन शुभ, सुन्दर और आनन्दमय होगा। उतना ही नहीं उनके आगामी कल का जीवन भी सुन्दर और सुखी होगा। गत कल के बिगड़े हुए कर्म की क्षतिपूर्ति हो जायेगी।

मित्रो, वर्तमान के सदुपयोग में ही जीवन की सफलता है, सिद्धि है, सुख है, सार्थकता है।

कई बार मन में प्रश्न उठता है ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिये है कि ससार के सभी कार्य समय के भीतर ही होते हैं। ससार समय में ही अवस्थित है। समय के बाहर कुछ भी नहीं है। समय ही जीवन है, ससार है।

और हम सभी जानते हैं कि समय वर्तमान में और केवल वर्तमान में ही होता है। समय न तो भूतकाल में है और न भविष्य में समय केवल वर्तमान में ही है।

भूत स्मृति है और भविष्य कल्पना। कल्पना और स्मृति केवल मानसिक जगत का कार्य है, जीवन का यथार्थ नहीं। यथार्थ तो वर्तमान ही है। जीवन के यथार्थ कार्य वर्तमान में ही किये जा सकते हैं। वर्तमान में ही जीवन को यथार्थ और सार्थक बनाया जा सकता है। अतः जीवन में जो भी करना है उसे वर्तमान में ही शुरू करना होगा। वर्तमान में कार्य आरम्भ किया नहीं कि जीवन सक्रिय और गतिशील हो उठता है; और हम सभी यह देखते हैं, अनुभव करते हैं कि जीवन वृक्ष का फल सक्रियता एवं गतिशीलता की शाखाओं में ही लगता है।

यहाँ एक व्यावहारिक प्रश्न आता है कि वर्तमान का उपयोग कैसे करें?

इसके लिये हमें एक दूसरे तथ्य की ओर ध्यान देना होगा। वह तथ्य है समय का स्वभाव, हमें समय के स्वभाव को ठीक ठीक समझ लेना होगा। समय की जिस ईकाई से हम साधारणतः परिचित हैं क्षण या सेकण्ड, इससे बड़ी ईकाई है मिनट। मिनट से हम सब भलीभाँति परिचित हैं तथा हम सभी दैनन्दिन जीवन में उसका उपयोग भी करते हैं।

पर बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारा ध्यान प्रायः मिनट की ओर नहीं जाता तथा हम समय को घटों, दिनों, सप्ताहों, महीनों और वर्षों में पकड़ना चाहते हैं। हम प्रायः सोचा करते हैं कि दो घण्टे में कोई पुस्तक पढ़ लेंगे या कोई पत्र अथवा लेख आदि लिख लेंगे। अगले दिन से या अगले सप्ताह से स्वास्थ्य सुधार के लिये व्यायाम प्रारम्भ करेंगे। अगले महीने से किसी विषय विशेष का अध्ययन प्रारम्भ कर देंगे, अगले वर्ष अमुक कार्य या व्यवस्था में लग जायेंगे आदि।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भविष्य की ये योजनाएँ तो ठीक हैं। किन्तु इन सभी योजनाओं के लिये वर्तमान में हम कुछ न कुछ अवश्य कर सकते हैं। हमारे भविष्य की सभी योजनाओं की सफलता, हमारे वर्तमान की तैयारी पर निर्भर करती है। भविष्य की सभी योजनाओं का उत्स वर्तमान ही होता है। वर्तमान में हम अपने जीवन को जितना अधिक सयत, व्यवस्थित तथा सुनियोजित करेंगे भविष्य के कार्य के लिये हम उतने ही अधिक योग्य अधिकारी हो सकेंगे तथा उतनी ही अधिक मात्रा में हमारे भविष्य की योजनाओं की सफलता की सम्भावनाएँ भी होंगी। तथा हम सफल और कृतार्थ भी हो सकेंगे।

समय वर्तमान में ही होता है। अतः समय को पकड़ने के लिये, उसका सदुपयोग करने के लिये सर्वप्रथम हमें समय के सम्बन्ध में सचेत या जागरूक होना चाहिए। समय का सदुपयोग हम इसीलिये नहीं कर पाते क्योंकि हम उसके सम्बन्ध में सावधान या जागरूक नहीं होते हैं। हमें प्रायः समय के बीतने का ध्यान ही नहीं रहता। ध्यान न रहने के कारण हमारा अधिकांश समय व्यर्थ के कार्यों अथवा आलस्य-प्रमाद आदि में ही व्यतीत होता है और हम उस समय का लाभ नहीं ले पाते। अस्तु, समय के सम्बन्ध में जागरूक रहना होगा।

समय को पकड़ने का, उसका सदुपयोग करने का सहज और श्रेष्ठ उपाय है २४ घंटे का एक दैनिक कार्यक्रम बना लेना। यह कार्यक्रम प्रत्येक व्यक्ति को अपनी परिस्थिति, सुविधा आदि के अनुसार बनाना होगा। मुख्य बात है सोच विचारकर अपने लिये एक ऐसी दिनचर्या बना लेना जिसका पालन करना सहज ही सम्भव हो।

इस दिनचर्या में अपनी नौकरी, व्यवसाय, कार्य आदि के अनुसार अपने सभी कार्यों के लिये समय निर्धारित कर लेना चाहिये। समय निर्धारण में कार्यों की प्राथमिकता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार प्राथमिकता निर्धारित करना होता है। उसी क्रम में प्रत्येक कार्य के लिये समय निर्धारित करना होगा।

(शेष पृष्ठ २२० पर)

जीने की कला (२१)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

अहिंसा की अभिव्यक्ति

योगसूत्रों के रचयिता महर्षि पतंजलि कहते हैं कि अहिंसा-भाव में प्रतिष्ठित व्यक्ति के सान्निध्य में आकर पशु-पक्षी भी अपने स्वाभाविक वैर-भाव को त्याग देते हैं। भारतीय काव्य में, आश्रमों के वर्णन में हम पढ़ते हैं कि वहाँ बाघ और हिरण एक साथ निर्भय व स्वच्छन्द भाव से विचरण किया करते थे। यह मात्र एक काव्यात्मक अतिशयोक्ति नहीं, अपितु सत्य है।

अहिंसा का अर्थ – विचारों और कर्मों द्वारा किसी अन्य को क्षति पहुँचाने से विरत रहना मात्र नहीं है। इसमें सबके प्रति विशुद्ध प्रेम-भाव भी आ जाता है। प्रेम, मैत्री और दया भाव अहिंसा के अन्य पहलू मात्र हैं। जब साधु-सन्त अहिंसा की साधना करते हैं, तो उनके हृदय से पवित्र प्रेम की धाराएँ नि:सृत होती हैं। ऐसे उदाहरण दिखते हैं, जिनमें ध्यान, प्रार्थना जैसी साधना न करनेवाले लोग भी इन महापुरुषों के सान्निध्य में शान्ति और सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं। ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि ऐसे महात्माजनों के सान्निध्य में पशु-पक्षी भी अतीव सुख और निर्भयता का बोध करते हैं। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें ऐसे महात्माओं के सान्निध्य में पशु-पक्षी भी अतीव सुख व अभयता का अनुभव करते हैं।

जब रमण महर्षि अपने आश्रम में रहते थे, तो जंगली पशु-पक्षी निर्भय होकर उनके पास आकर उनके हाथों से खाद्य पदार्थ लेकर खाया करते थे। पशु-पक्षियों के प्रति उनका प्रेम बेमिसाल था। पशुओं के लिए उभयनिष्ठ नपुंसक लिंग का प्रयोग न करके पुल्लिग या स्त्रीलिंग-वाचक सर्वनाम का प्रयोग किया करते थे। यदि वे पूछते, "क्या बच्चों का भोजन हो गया?" तो इसका अर्थ होता, "क्या कुत्तों ने खा लिया?" यदि वे पूछते, "क्या लक्ष्मी ने भोजन किया?" तो इसका अर्थ होता, "क्या लक्ष्मी नाम की गाय को चारा मिला?" वे मोरों के आवाज की नकल करके उन्हें बुलाया करते। और मोर उनके पास आकर दाल, चावल या आम लेकर जंगल में वापस लौट जाते। गौरैयाँ उनके हाथों पर बैठी उनकी हथेली से दाना चुगा करतीं। अपनी मृत्यु से एक दिन पूर्व यद्यपि वे तीव्र पीड़ा से ग्रस्त थे, तो भी मोरों का कलरव सुनकर उन्होंने पूछा, "क्या उनका रोज का भोजन उन्हें मिल गया है?"

वे आश्रम परिसर में कभी साँपों को मारने की अनुमति नहीं देते। वे कहते, "हम यहाँ उनके राज्य में आए हैं। अत: उन्हें हानि पहुँचाना उचित नहीं है। वे भी हमें हानि पहुँचाना नहीं चाहते।" जब एक बार वे एक पहाड़ी पर बैठे थे, तो एक नाग उनके पावों पर चढ़कर, वहाँ थोड़ा रेंगकर चुपचाप चला गया। वे अविचलित और निर्भय बैठे रहे। बाद में जब उनसे पूछा गया कि नाग के रेंगने पर उनको कैसा अनुभव हुआ, तो उन्होंने बताया, "शीतल, मुलायम।"

आश्रम में कमला नामक एक बुद्धिमती कुतिया थी। महर्षि उसे आश्रम के भक्तों और अतिथियों को पहाड़ी के चारों ओर घुमा लाने को कहते। वह उन लोगों को आश्रम के आसपास की मूर्तियों, सरोवरों और मन्दिरों का दर्शन करा लाती।

रमण महर्षि परम ज्ञानी के सहज सद्गुणों से परिपूर्ण थे। वे ज्ञान, निर्भयता, प्रेम, दया और सहानुभूति के आगार थे। उन्होंने पशुओं के व्यवहारों, आवाजों तथा उनके सामाजिक आचारों का बड़ी अन्तरंगता से निरीक्षण किया था। बन्दरों के बीच कोई झगड़ा होने पर वे हस्तक्षेप करते और फिर महर्षि की उपस्थिति में ही बन्दर अपने झगड़े सुलझा लेते। सामान्यत: जंगलों से भागकर गाँवों में आनेवाले बन्दर पकड़ लिए जाते हैं और लोग उन्हें पालते-पोषते हैं। फिर कभी कभी उन बन्दरों के जंगल में लौट आने पर जंगल के बन्दर उन्हें अस्वीकार करके उन्हें बहिष्कृत कर देते। परन्तु रमण महर्षि का सत्संग पा चुके बन्दर इस निर्वासन से मुक्त थे। जंगल के बन्दर ऐसे बन्दरों का अपनी जाति में स्वागत करके स्वीकार कर लेते। एक बार महर्षि जंगलों में घूमने गए। जब उन्हें भूख लगी, तो न जाने कहाँ से वहाँ बन्दरों का एक झुण्ड आ गया। वे बन्दर एक फलदार वृक्ष पर चढ़ गए और कुछ फल नीचे गिराकर, उन्हें उठाये बिना ही वहाँ से चले गए।

प्रेम की शक्ति असीम है! भगवान रमण महर्षि सबके मित्र थे। उन्होंने विश्व को पशु-पक्षियों को परम स्नेह की दृष्टि से देखने का आदर्श प्रदान किया।

परन्तु साँपों से मत खेलो

यह सच है कि रमण महर्षि अविचलित और निर्भय होकर बैठे रहे और नाग उन्हें कोई क्षति पहुँचाये बिना ही उनके पाँवों के ऊपर से चला गया। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वन्य पशु हमेशा ही मानवीय दया और उदारता का वैसा ही प्रत्युत्तर देते हों। एक प्रौढ़ व्यक्ति ने एक घटना सुनायी थी। बाढ़ के दिनों में एक बार एक गाँव पूर्णत: जलमग्न हो गया। तब एक आदमी और एक नाग एक पेड़ पर रहने लगे। बाढ़ का जल घटने पर, उस व्यक्ति को खोजनेवाले उसके स्वजन-

बन्धु उसे पेड़ पर पाकर उसे बचाने आए। वहाँ से जाते समय उस व्यक्ति ने बाढ़ के दिनों में उसे हानि न पहुँचाने के लिए नाग के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हुए प्रेम और स्नेह-भाव के साथ नाग की चरण-सेवा करनी चाही। परन्तु नाग इस पर क्रोधित हो गया। उसने फुफकारते हुए फन उठाया और उसे जोरों से डँस लिया। वह आदमी तत्काल मर गया।

द्वेष-भाव रूपी दोष

वैरभाव का बोधक 'द्वेष' शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृत के 'द्विष्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है दुगुना विषैला। मन में घृणा-भाव का पोषण करनेवाले लोग न केवल स्वयं को जलाते हैं, अपितु उन्हें भी जलाते हैं, जो उनकी घृणा के पात्र हैं। द्वेष या घृणा मनुष्य को विष का भण्डार बना देती है। वह खुद विनष्ट होकर दूसरों को भी विनष्ट कर देता है। घृणा एक ऐसी नकारात्मक शक्ति है, जो सब कुछ बरबाद कर देती है।

प्रेम आपसी संवेदना, आपसी सहमति व स्वीकृति, आपसी समझ और सौहार्द्र उत्पन्न करता है, परन्तु घृणा आपसी द्वेष, दुर्व्यवहार, संघर्ष, गलतफहमी, उदासीनता, ईर्ष्या तथा अन्याय को बढ़ाती है। यह मनुष्य को विनाश के कगार पर पहुँचाकर उसका सर्वनाश कर देती है। अगर कहीं यह संसार ईर्ष्या और घृणा से मुक्त होता, तो यह साक्षात् स्वर्ग ही बन जाता!

यह कैसी विचित्र बात है कि आजकल संसार में हर व्यक्ति जीवन के हर क्षेत्र में केवल घृणा की आग को ही हवा दे रहा है। भक्तिमार्गी सन्तों का कहना है कि घृणा भक्ति का शत्रु है। जब तक हृदय में घृणा को आश्रय मिलता है, तब तक उसमें भक्ति के लिए कोई स्थान न होगा। यदि आप यथार्थ रूप से धार्मिक हैं, यदि आप ईश्वर के प्रति सच्ची भक्ति-श्रद्धा रखते हैं, तो आप किसी से भी कभी घृणा नहीं करेंगे। नि:स्वार्थ प्रेम से परिपूर्ण हृदयवाले साधु-सन्त सबके ऊपर समान भाव से प्रेम तथा आशीर्वाद का वर्षण करते हुए मानवता की सहायता करते हैं। और घृणा का विष फैलाकर समाज का स्वास्थ्य बिगाड़ने वाले लोग सचमुच ही दुष्ट होते हैं।

ईर्ष्या की आग

ईर्ष्या घृणा की चिरसंगिनी है। ये दोनों सदैव साथ साथ ही विचरण किया करती हैं। पूर्णत: अस्वास्थ्यकर ईर्ष्या-भावना से ग्रस्त लोग बेचैन तथा परेशान-से रहते हैं। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो दूसरों की सफलता देखते ही बेचैन हो जाते हैं।

मानवात्मा के छह शत्रुओं में ईर्ष्या का छठा स्थान है। यह असीम क्षतिकारक है। ऐसे लोग भी हुए हैं, जिन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार पर विजय पा ली है। परन्तु वे लोग भी ईर्ष्या से ग्रस्त होकर अन्याय और छल-कपट करने में नहीं हिचकते। ईर्ष्या से पूर्णत: मुक्त रहनेवाला व्यक्ति ही सचमुच महान् है।

स्वामी विवेकानन्द ने 'ईर्ष्या से मुक्त हो जाना' ही अहिंसा की परिभाषा बताई है।

एक नदी के दोनों तटों पर दो साधक तपस्या कर रहे थे। दीर्घ काल की तपस्या के बाद उनमें से एक के समक्ष प्रकट होकर ईश्वर ने पूछा, "तुम्हारी क्या इच्छा है?" तपस्वी बोले, "नदी के उस ओर भी कोई वरप्राप्ति के लिए तप कर रहा है। उसे जो फल मिले, मैं उसका दुगना चाहता हूँ।" भगवान दूसरे तपस्वी के सामने भी प्रकट हुए और उसे पहले तपस्वी की इच्छा के बारे में बताने के बाद पूछा, "तुम्हें क्या वरदान चाहिए?" वह बोला, "मैं एक नेत्र से रहित होकर काना हो जाऊँ।" इससे ईश्वर का वरदान पा चुके पहले तपस्वी की इच्छा भी पूरी हो गई। वह अपनी दोनों आँखें खो बैठा।

यह कहानी दर्शाती है कि ईर्ष्या किस प्रकार तपस्वियों तक को अभिभूत कर सकती है। कठोर तपस्या के उपरान्त साधक को ईश्वर-दर्शन होने पर उसमें रंच मात्र भी अहंकार नहीं रह जाना चाहिए। यह अहंकार ही मन के षड्रिपुओं का मूल आधार है। यह कहानी तपस्या या तपस्वी के बारे में नहीं, अपितु ईर्ष्या के दूरगामी प्रभाव की ओर इंगित करती है।

महाभारत में कहा गया है, "भले लोगों से घृणा करना पाप है।" श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "यदि हम सज्जनों का आदर न करें, तो भगवान हमसे नाराज होते हैं।" बर्ट्रेंड रसेल का कथन है, "ईर्ष्या सुख का सबसे बड़ा शत्रु है।"

यह ईर्ष्या बच्चों तक में भी पायी जाती है। यदि माँ एक बच्चे से पक्षपात करती है, तो दूसरा बच्चा ईर्ष्यालु और अधीर हो जाता है। माता-पिता यदि बच्चों को खाद्य पदार्थ या स्नेह-दुलार आदि सब कुछ देने में निष्पक्ष रहें, तो सन्तानों को सुख मिलेगा। प्रौढ़ लोग बच्चों की तरह खुले तौर पर अपनी ईर्ष्या प्रकट नहीं करते। पर उनका व्यवहार उनकी इच्छा और इरादे के साथ विश्वासघात करता रहता है। वे दूसरों द्वारा किये हुए अच्छे कार्यों को दुर्भावना से प्रेरित मानते हैं। ईर्ष्यालु लोग कभी दूसरों के भले गुणों की प्रशंसा नहीं कर सकते। ईर्ष्यालु लोग प्राय: इस प्रकार बातें करते हैं मानो वे पूर्णत: निष्पक्ष, बुद्धिमान और नितान्त संवेदनशील हों, परन्तु शेक्सपियर के नाटक 'ओथेलो' के पात्र इयागो की भाँति वे ईर्ष्यान्ध होकर दूसरों के विनाश का षड्यंत्र रचते रहते हैं।

एक बार एक अध्यापक ने अपने उत्तम व्यवहार तथा शिक्षण के द्वारा विद्यार्थियों का प्रेम और स्नेह जीत लिया। वे विद्यालय के प्रधानाध्यापक पर भी पुत्रसुलभ स्नेह-दृष्टि रखते थे। यद्यपि वे शिक्षक विनम्र और निष्ठावान तथा ईर्ष्या-भाव से मुक्त थे, तथापि प्रधानाध्यापक उन शिक्षक को देखते ही चिढ़ जाते। चार या पाँच वर्षों तक प्रधानाध्यापक ने कभी भी उन शिक्षक के साथ प्रेम व आदरपूर्वक बातें नहीं की। उस शिक्षक की उपस्थिति में प्रधानाध्यापक थोड़े चिड़चिड़े दिखते। उन

सहायक अध्यापक के अधिकाधिक लोकप्रिय होने के साथ ही साथ प्रधानाध्यापक की ईर्ष्या भी क्रमश: तीव्र होती गई। अन्तत: प्रधानाध्यापक ने चालबाजी करके सहायक अध्यापक का तबादला करा दिया। इससे उन्हें थोड़ी राहत मिली। वे यह समझ पाने में विफल रहे कि सहायक अध्यापक अच्छा कार्य कर रहा थे और विद्यालय का गौरव भी बढ़ा रहे थे।

सुचित्रा ने जब सुना कि उसके देवर के बच्चों को मेडिकल कालेज में प्रवेश मिल गया है, तो वह बड़ी उद्विग्न हो उठी। वह दूसरों को सुनाते हुई बोल पड़ी, ''ओह ! आज कल तो गली गली में डॉक्टर पड़े हैं। लगता है कि यह व्यवसाय अब आकर्षक नहीं रहा। आज भला कौन डॉक्टर बनना चाहेगा ! मेरा बेटा तो कतई नहीं।'' वस्तुत: उसके पुत्र ने भी मेडिकल कॉलेज में भरती होने का खूब प्रयास किया था, पर उसके अंक काफी कम होने के कारण वह प्रवेश नहीं पा सका था। इससे यही बात सिद्ध होती है कि 'हम चीजों को उनके यथार्थ रूप में नहीं, अपितु अपने मनोभाव के अनुसार देखते हैं।'

कहते हैं कि महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक ईर्ष्यालु होती हैं। स्त्रियाँ अन्य सभी स्त्रियों को कथित तौर पर अपनी प्रतिद्वन्दिनी मानती हैं। इसे व्यावसायिक ईर्ष्या कहते हैं। ''एक विद्वान् दूसरे विद्वान् से वैसे ही ईर्ष्या करता है जैसे एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को देखकर गुर्राता है।'' यदि एक संगीतकार के सामने आप किसी अन्य संगीतकार की प्रशंसा करें, तो आपको तिरस्कार से परिपूर्ण बातें सुनने को मिलेंगी। अधिकांश लोग ईर्ष्या नामक इस चुड़ैल से आक्रान्त हैं।

ईर्ष्यालु लोग कभी चैन से नहीं रहते। वे हमेशा असन्तोष से क्रुद्ध रहते हैं। प्राप्त सुख-सुविधा तथा सम्पत्ति से सुखी होने के बजाय वे दूसरों की उन्नति से कुढ़ते रहते हैं। वे अन्यों का दुर्भाग्य मनाकर उनके सर्वनाश की आशा करके अपने स्वयं के भावी सर्वनाश का बीज बोते हैं। वे यथासम्भव दूसरों को कष्ट देते हुए अपने जीवन में भी दु:ख को बुलावा देते हैं।

ईर्ष्या से मुक्त होने के लिए मनुष्य को इसके दुष्प्रभावों को समझकर उनसे अपना बचाव करना चाहिए। व्यक्ति को दूसरों के सद्गुणों की प्रशंसा तथा आदर करना सीखना चाहिए। कोई व्यक्ति अपने प्रयत्न और कठोर परिश्रम के बल पर ही उत्कर्ष प्राप्त करता है। ईर्ष्या से पराभूत होने के पूर्व व्यक्ति को स्वयं से प्रश्न करना चाहिए कि क्या वह बिना संघर्ष के ही सफल होना चाहता है? भक्ति और विश्वास भाव से नित्य प्रार्थना करके व्यक्ति ईर्ष्या की दुर्भावना को दूर भगा सकता है। निर्बल और सबल दोनों ही प्रकार के लोगों को ईर्ष्यामुक्त होना चाहिए। अन्यथा निर्बल लोग इहलोक में और सबल लोग परलोक में अपनी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

जिना सरमिनारा का कहना था, ''ज्योंही कोई व्यक्ति स्वयं से जुड़े अरुचिकर या झगड़ालू व्यक्ति से सच्चा प्रेम करना सीख लेगा, वह बन्धन से मुक्त हो जाएगा।''

शत्रुता का दुष्चक्र

घृणा करनेवाले लोग हमेशा उत्तेजित और कटु होते हैं। घृणा मन को संकुचित करके विवेक तथा विचार को पंगु बना देती है। शत्रुता काला चश्मा लगाने के समान है। यह हमारी बुद्धि को ढँक लेती है। जिस चीज को आप दूसरों में सबसे अधिक नापसन्द करते हैं, उसे ही अपने अन्दर विकसित करते हैं। घृणा का शिकार बननेवाला व्यक्ति दूसरों से घृणा करके अपने भीतर घृणा का विकास करता है। वह हमेशा बदले की आग में सुलगता रहता है। घृणा करनेवाला अपनी मानसिक और शारीरिक सेहत को चौपट करने के लिए मजबूर होता है। घृणा का शिकार व्यक्ति अपने अत्याचारी को घृणा की दृष्टि से देखता है। घृणा को प्रश्रय देनेवाले तनाव और चिन्ता से भरे रहते हैं। दूसरों से घृणा करनेवाले लोग सबसे परित्यक्त होकर उदास रहते हैं और एकाकीपन के दु:ख से पीड़ित रहते हैं।

उत्तर भारत में एक बार एक संन्यासी विभिन्न स्थानों में विचरण कर रहे थे। उनके पास एक भी पैसा न था। लोग आ-आकर उनकी ज्ञान की बातें सुनते थे। वे लोगों से दूसरों के प्रति क्रूरता छोड़कर सज्जन बनने का उपदेश दे रहे थे। एक बार हजार से भी अधिक लोगों को सम्बोधित करते हुए वे बोले थे, ''घृणा से अधिक भयंकर दूसरा कोई पाप नहीं है; घृणा सबसे भयंकर रोग है; घृणा को कभी घृणा से नहीं जीता जा सकता। उसे प्रेम और सहानुभूति के हथियार से जीतो।''

ये संन्यासी थे महात्मा गौतम बुद्ध। भगवान बुद्ध द्वारा २५०० वर्षों पूर्व लोगों को दिया गया सन्देश, सभी युगों में समस्त प्रकार के दु:ख-कष्टों के उपचार हेतु एक आश्चर्यजनक औषधि है। क्या तुम किसी से घृणा करते हो? यदि हाँ, तो यह तुम्हारी सबसे बड़ी दुर्बलता है, तुम्हारी सबसे बड़ी भूल है। इसे यहीं और तत्काल छोड़ दो।

मन में दूसरे के प्रति घृणा का विचार लाते ही तुम अपने ऊपर नियंत्रण स्थापित करने का समस्त अधिकार उसे सौंप देते हो। फिर वही तुम्हारी निद्रा, भूख, रक्तचाप, स्वास्थ्य और प्रसन्नता पर नियंत्रण रखना शुरू कर देता है। यदि तुम्हारे शत्रुओं को पता लग जाय कि उनके प्रति तुम्हारे घृणा भाव से तुम्हारा मन सदा चिड़चिड़ा बना रहता है, तो वस्तुत: वे खुशी से उछलने लगेंगे। तुम्हारी घृणा-भावना तुम्हारे दुश्मनों को कोई क्षति नहीं पहुँचाती। उसकी जगह बल्कि वे तुमको ही दु:ख और शोक के नरक की ओर ले जाती हैं।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, ''यदि तुम अपने हृदय से ईर्ष्या और घृणा के भाव बाहर भेजो, तो वह चक्रवृद्धि ब्याज सहित तुम पर आकर गिरेगा। दुनिया की कोई भी ताकत उसे रोक न सकेगी। यदि तुमने एक बार उस शक्ति को बाहर भेज दिया, तो फिर निश्चित जानो, तुम्हें उसका प्रतिघात झेलना ही

पड़ेगा। यह याद रखने पर तुम कुकर्मों से बचे रह सकोगे।''

क्रोधोन्माद की अग्नि

एक महिला को एक बार एक पागल कुत्ते ने काट लिया। समुचित उपचार न हो पाने के कारण कुछ समय बाद उसमें रैबीज या हाइड्रोफोबिया के लक्षण प्रकट हुए। उसके रिश्तेदारों ने उसे एक अस्पताल में भर्ती कर दिया। जब उसका मन कुछ शान्त हुआ, तो डॉक्टर ने उससे कहा, "इस कागज और कलम से तुम अपनी इच्छा लिख सकती हो।'' उसने लिखना तो शुरू किया, पर रुकने का नाम नहीं ले रही थी। डॉक्टर ने सोचा कि उसका मन पुन: दुर्बल हो रहा है। डॉक्टर ने पूछा, "तुम क्या कर रही हो?'' उसने कहा, "मैं उन लोगों की सूची बना रही हूँ, जिन्हें मैं काटना चाहती हूँ।'' मृत्यु की दहलीज पर खड़े होकर भी कुछ लोग बदला लेने की ही बातें सोचते हैं और दूसरों के जीवन को नष्ट करने के उपायों की योजना बनाते रहते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं, "मैं तुम्हारे विश्वासघात को नहीं भूल सकता। मैं भूत बनकर तुम्हें दुख-कष्ट दूँगा।'' शरीर पंच-तत्त्व में विलीन हो सकता है, परन्तु बदला लेने की इच्छा नहीं जाती !

राख से ढँका अंगार

कुछ लोग छिपे तौर पर बदले का भाव रखते हैं। उनका वचन और व्यवहार उनके मन के भाव व्यक्त नहीं होने देता। पर गुप्त घृणा-भाव उनके चरित्र को दुर्बल करता रहता है।

कई महीनों से अनिद्रा, चिन्ता और घोर थकावट से बेचैन एक ३४ वर्षीय महिला एक डॉक्टर के पास आयी। वह अन्य डाक्टरों से इलाज करा रही थी, परन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ। वह प्राय: आत्महत्या करने की सोचती थी। गहराई से जाँच-पड़ताल करनेवाले प्रश्न पूछकर ही डॉक्टर उसकी पीड़ा का वास्तविक कारण ढूँढ़ सके। वह अपनी उस बहन के प्रति घृणा-भाव से पीड़ित हो रही थी, जिसका विवाह एक ऐसे पुरुष से हुआ था, जिसे वह छिपे तौर पर प्यार कर चुकी थी। यद्यपि अपने बाह्य व्यवहार से उसने अपनी बहन के प्रति व्यावहारिक स्नेह-भावपूर्ण आचरण किया, तथापि उसके मन में अपनी बहन के प्रति क्रोध-भावना पनप रही थी। उसके मानसिक और शारीरिक दुख-दर्द का यही कारण था।

इसी दौरान एक महात्मा ने उसे सांत्वना देते हुए समझाया, "देखो, घृणा एक दुर्भावना है। तुम भगवान की शरण में जाकर अपनी बहन के प्रति उत्पन्न क्रोध-भाव से मुक्ति पाने के लिए प्रार्थना करो। प्रार्थना और ईश्वर की सर्व-शक्तिमत्ता में अपने विश्वास से अन्ततोगत्वा वह क्रोध-भाव से मुक्त हो गई। धीरे धीरे उसकी अनिद्रा, उदासी और चिन्ता घटने लगी। और वह पहले से अधिक सुखी और प्रसन्न होकर मानो एक नवीन ही महिला बन गई।

प्रेम से जीतो

लोगों द्वारा दुर्व्यवहार करने, हेकड़ी दिखाने और हमें धोखा देने का प्रयत्न करने पर, हम स्वाभाविक रूप से नाराज हो जाते हैं। झूठे आरोप, निन्दा और दुष्प्रचार से हम क्रोधित हो उठते हैं। जब लोग तुम्हारे सच्चे इरादे को गलत समझ बैठें, जब लोग तुम्हें ठग लें, तो तुम स्वाभाविक तौर पर रुष्ट होकर बदला लेना चाहते हो। परन्तु साधुजन हमें बताते हैं कि **हमें इस प्रतिशोध के भाव को प्रेम से जीतना चाहिए।** शयन के पूर्व या ध्यान करते समय तुम जिन लोगों से घृणा करते हो, उन लोगों के प्रति प्रेम और सद्भाव के विचार तथा स्पन्दन प्रेषित करो। धर्म और भक्ति-भाव हमारे हृदयों को पवित्र बनाने और मानवीय सम्बन्धों को सुधारने के लिए हैं। दृढ़ अध्यवसाय के साथ प्रार्थना करने पर हम घृणा और ईर्ष्या की भूलभूलैया से सुरक्षित निकल सकते हैं।

ऋषियों-मुनियों ने अपने अनुभव के आधार पर यह घोषणा की कि मनुष्य मूलत: दिव्य है। वह देहधारी आत्मा है। यदि हमें जाति, वर्ण और धर्म के भेदभाव से ऊपर उठना है, तो आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझना होगा। यदि सबमें एक ही आत्मा विद्यमान है, तो हम किससे घृणा करें? यदि शरीर एक वाहन है, जिसे आत्मा यथेच्छा बदल सकती है, तो विभिन्न जाति के लोगों से घृणा करना, मानो विभिन्न भूमिकाओं में प्रकट होनेवाले किसी अभिनेता को नापसन्द करना है।

जैसे-जैसे हमारे ज्ञान का क्षितिज विस्तृत होता जाता है, वैसे वैसे हमारे दृष्टिकोण में भी बदलाव आता जाएगा। इससे हमारे जीवन में ताजगी आएगी। ❖ **(क्रमश:)** ❖

(पृष्ठ २१५ का शेषांश)

समय का सदुपयोग करने के लिये दिनचर्या का प्रारम्भ सुबह उठने से करना चाहिये। वस्तुतः हमारे जीवन में समय का प्रारम्भ ही तब होता है जब हम सोकर उठते हैं। तथा अपने विभिन्न दैनिक कार्यों में लग जाते हैं। अतः दिनचर्या का प्रारम्भ प्रातः उठने से करें। प्रातः उठने से रात सोने तक प्रत्येक कार्य के लिये समय निर्धारित कर लें तथा क्रमवार प्रत्येक कार्य करते चलें। यहाँ तक कि खान-पान, सैर-सपाटे, मनोरजन, आमोद-प्रमोद आदि सभी कार्यों के लिये एक समय निर्धारित कर लें तथा उसके अनुसार कार्य करें। इस प्रकार कार्य करने पर हम समय का अधिक से अधिक उपयोग कर सकेंगे, तब हमारे पास सभी आवश्यक कार्य करने का समय रहेगा। हमारे सभी कार्य सुव्यवस्थित एवं सुन्दर होंगे। हमारा वर्तमान सुख और शान्ति पूर्ण होगा। जीवन की सफलता का यही रहस्य है। ❖

तुलसी का मंगल-विधान

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा

(प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

महाकवि तुलसीदास उन महान् व्यक्तियों में से हैं, जिनका काव्य भारतीय संस्कृति का दर्पण है। उनके साहित्य ने शताब्दियों के अन्तराल में इस देश के मानस का निर्माण और परिष्कार किया है। उनके काव्य में भारतीय संस्कृति के आधारभूत मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई है।

भारतीय संस्कृति समष्टि-प्रधान संस्कृति है, जिसमें विश्व-कल्याण या लोक-मंगल व्यक्ति के निजी सुख और स्वार्थ से अधिक महत्वपूर्ण है। व्यक्ति के जीवन की सार्थकता इसी बात में है कि उसके द्वारा प्राणी मात्र का अधिक-से-अधिक हित हो; **वसुधैव कुटुम्बकम्** का आदर्श व्यक्ति और विश्व के बीच इसी सद्भाव और आत्मीयता को रेखांकित करता है। यह लोकमंगल या लोकसंग्रह ही तुलसी के काव्य की प्रेरणा है। इस प्रेरणा को रूपायित करने का माध्यम है रामकथा और इस रामकथा के नायक श्रीरामचन्द्र मंगल के साक्षात्स्वरूप ही हैं।

तुलसीदास ने अनेक काव्य-कृतियों की रचना की है, जिनमें रामचरित-मानस, विनय-पत्रिका, कवितावली, गीतावली, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल आदि प्रमुख हैं। इन सभी कृतियों के द्वारा कल्याणप्रद जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। रामचरित-मानस इनमें अन्यतम है तथा विश्व के सर्वाधिक समादृत और लोकप्रिय साहित्य में इसका स्थान है। मानस तुलसी के चिन्तन का सार-सर्वस्व है, जिसके माध्यम से उन्होंने न केवल इस देश के हृदय को आप्यायित किया है, अपितु उसके समक्ष एक सुखद और मंगलमय जीवन का आदर्श भी रखा है।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि तुलसी के रामकथा वर्णन की पृष्ठभूमि में श्रीराम के प्रति उनकी अगाध निष्ठा है। राम के प्रति उनका असीम भक्तिभाव देखते हुए कुछ लोगों का मानना है कि उनका काव्य उनकी भक्ति का सहज प्रकाशन मात्र है, पर उनके काव्य का अनुशीलन करने पर उनकी लोकदृष्टि और सामाजिक सन्दर्भ स्वयं ही स्पष्ट हो जाते हैं। मानस की रचना उन्होंने भले ही **स्वान्तःसुखाय** की हो किन्तु उनका अन्तःकरण इतना विशाल है कि सारा विश्व उसमें समा जाता है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि तुलसी तत्कालीन समाज में व्याप्त राजनीति-प्रसूत निराशा, धार्मिक मत-मतान्तर-वाद, सामाजिक उथल-पुथल और नैतिक पतन से अत्यन्त क्षुब्ध और उद्वेलित थे। समाज की दुर्दशा के ऐसे अनेक चित्र उनके काव्य में मिलते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि वे केवल इन विकृतियों के साक्षी ही नहीं, अपितु भुक्तभोगी भी थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त इस समाज में व्यक्ति अपना दिशा-बोध खो चुका है और शास्त्रों के विधि-निषेध, न उसका संस्कार कर पा रहे हैं और न उसे सांत्वना दे पा रहे हैं। इस समय उसे आवश्यकता है एक समर्थ और करुणामय आश्वासन की, जो उसके आहत मन की पीड़ा को समझ सके और उसे अभय कर सके। लोकरंजन और लोकमंगल की यह प्रस्तावना लेकर तुलसी के राम और रामकथा समाज के क्षितिज पर अवतरित हुए –

मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।

भगवान शिव रामकथा के प्रथम व्याख्याता हैं। पार्वती जी के प्रश्न पर उन्होंने रामकथा का उपदेश किया। जब पार्वती जी प्रश्न करती हैं तो वे उनकी सराहना करते हुए कहते हैं –

धन्य धन्य गिरिराज कुमारी।
तुम्ह समान नहि कोउ उपकारी।।
पूँछेउ रघुपति कथा प्रसंगा।
सकल लोक जगपावनि गंगा।।
तुम रघुबीर चरन अनुरागी।
कीन्हेउ प्रस्न जगत हित लागी।।

इस प्रकार संसार के हित के लिए ही रामकथा की अवतारणा हुई है; तुलसी की दृष्टि में यह लोकहित ही सामर्थ्य और ऐश्वर्य की सार्थकता की कसौटी है।

कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई।।

'मानस' में तुलसी ने जिन पात्रों का चित्रण किया है, उनमें से प्रत्येक एक स्वतंत्र महाकाव्य का नायक या विषय हो सकता है। ये सारे मिलकर जीवन की जो उदात्त परिभाषा प्रस्तुत करते हैं, वह विश्वकाव्य में दुर्लभ है। रामकथा के पात्रों के माध्यम से उन्होंने व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के उन उच्च आदर्शों का चित्रण किया है, जो कठिन होते हुए भी अस्वाभाविक और असम्भव नहीं है। और यदि उन्हें जीवन में उतार लिया जाय, तो निश्चय ही जीवन आशीर्वाद हो जाय। लोकजीवन का यह आदर्श प्रस्तुत करना ही तुलसी का उद्देश्य है। रामकथा यह स्पष्ट करती है कि जब जब व्यक्ति स्वार्थपर होकर केवल अपनी भलाई के लिए प्रयासरत होता है, तब तब अमंगल की ही सृष्टि होती है और जब वह अपने स्वार्थ का अतिक्रमण कर सबके हित की सोचता है, तब वह विश्व के लिए वरदानस्वरूप हो जाता है। भरत इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। भरत और श्रीराम दोनों ही लोकमंगल के मूर्तिमान रूप हैं।

तुलसी के राम वाल्मीकि के राम से बहुत भिन्न हैं, वे लोकनायक हैं। तुलसी के राम की तीन प्रमुख चारित्रिक विशेषताएँ हैं – शील, सौन्दर्य और शौर्य। राम का सौन्दर्य

और शौर्य उनके शील से उत्पन्न होता है, यह शील उनके बौद्धिक और हार्दिक गुणों का समन्वय है। राम का सौन्दर्य, उनका प्रेम, उनकी सौम्यता और गम्भीरता जहाँ एक ओर हमें उनके प्रति श्रद्धावान बनाती है, वहीं दूसरी ओर उनका साहस और पराक्रम हमारे भीतर समर्पण और निश्चिन्तता का भाव जगाता है। राम की परदुख-कातरता, भक्त-वत्सलता और क्षमा उन्हें हमारा अपना और सगा बना देती है। राम का यह लोकरंजक व्यक्तित्व और लोकमंगल के प्रति उनकी प्रतिबद्धता उन्हें सही अर्थ में लोकनायक बनाती है।

भरत का चरित्र तुलसी की सम्भवत: सबसे बड़ी उपलब्धि है। वे प्रेम, त्याग, विवेक, कर्त्तव्य-परायणता और समर्पण की प्रतिमूर्ति हैं, धर्म के रक्षक हैं, इसीलिए तुलसी उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं –

सियराम प्रेम-पीयूषपूरन होंत जनमु न भरत को।
मुनिमन-अगम, जम नियम सम दम, बिषम ब्रत आचरत को।
दुख-दाह-दारिद-दम्भ दूषन, सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि, हठि राम सन्मुख करत को।।

इसी प्रकार दशरथ, कौशल्या, सीता, लक्ष्मण, हनुमान आदि सभी चरित्र धैर्य, साहस, प्रेम और त्याग की भावना से अनुप्राणित हैं। व्यक्ति के जितने भी सम्बन्ध हो सकते हैं, उन सबका आदर्श प्रस्तुत करना और समाज को दिशा-निर्देश देना ही गोस्वामी जी का उद्देश्य है। यों होने को तो मानव मन की सहज गति में कैकेयी, मन्थरा और रावण जैसे भी चरित्र हैं, पर उनका परिणाम सूचित करता है कि अविवेक और लिप्सा लोकहित के विपरीत है, अत: अमंगल और विनाश ही उनकी नियति है। रामकथा में चित्रण तो षड्यंत्र, द्वेष और युद्ध का भी है, पर उसका सन्देश है – प्रेम, त्याग और लोकमांगल्य।

समाज-हित के प्रति यह प्रतिबद्धता ही तुलसी का दृष्टिकोण है, इसी कारण उन्होंने वाल्मीकि रामायण में चित्रित पात्रों के चरित्र में संशोधन किए हैं। वनवास के समय कौशल्या के कथन, सुमंत्र को विदा करते हुए लक्ष्मण की कटूक्तियाँ तथा रावण-विजय के उपरान्त राम और सीता का परस्पर वार्तालाप कुछ ऐसा है कि उनके चरित्र की उदारता लांछित होती है। तुलसीदास ने बड़ी कुशलता से इन क्षीण और दुर्बल अंशों को हटाया और उनके स्थान पर संस्कृत काव्यों और पुराणों के प्रामाणिक सन्दर्भों को जोड़ा तथा इन चरित्रों को गौरव और महत्ता की उदात्त भूमि पर इस भाँति स्थापित किया कि वे समाज के लिए अनुकरणीय बन गये। ऐसा ही संशोधन महाकवि कालीदास ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' के नायक दुष्यन्त के चरित्र में किया है, दुर्वासा के शाप की परिकल्पना के द्वारा।

लोकहित के सम्पादन के लिए तुलसी ने जिन दो तत्वों की प्रतिष्ठा अपने काव्य में की है, वे हैं समन्वय और मर्यादा। समन्वय और मर्यादा वे दो किनारे हैं, जिनके बीच यदि समाज-सरिता बहे तो लोगों का अधिक-से-अधिक कल्याण हो सकता है। तुलसी के मानस में जिस समन्वयवादिता के दर्शन होते हैं, वह वैचारिक और विषमताओं का पारस्परिक संघर्ष दूर करती है तथा मर्यादा संयमित आचरण की वह शैली है जो सभी सम्बन्धों को स्निग्ध और सद्भावपूर्ण बनाती है।

तुलसी के समय का सामाजिक वातावरण पारस्परिक संघर्ष का वातावरण था। राजनीति स्वार्थमयी थी, जातीय विद्वेष व्याप्त था, धार्मिक असहिष्णुता चरम सीमा पर थी; शैवों और वैष्णवों के संघर्ष का दुष्परिणाम स्वयं तुलसी को कई बार भोगना पड़ा था। इस विषम वातावरण में सौमनस्य की सृष्टि करना ही तुलसीदास का अभीष्ट था। शिव के मुख से रामकथा का उपदेश करवाना, ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूपों का एकत्व प्रतिपादित करना, राजा राम और उनकी प्रजा का पारस्परिक प्रेम चित्रित करना, निषादराज का भरत की भाँति सम्मान होना, केवट और वनवासियों का राम के प्रति अनुराग और राम का उस अनुराग को सर-माथे लेना, शबरी के जूठे बेर खाना आदि ऐसे अनेक प्रसंग मानस में हैं, जो तुलसी के सौमनस्य-सृष्टि के सफल प्रयास हैं। महाकवि, रामचरित-मानस के माध्यम से एक ऐसे समाज की सृष्टि करना चाहते हैं, जिसमें सब एक-दूसरे के पूरक हैं और सब मिलकर मानव के कल्याण की भूमिका प्रस्तुत करते हैं।

रामकथा के माध्यम से मनुष्य के लौकिक जीवन के आदर्श प्रस्तुत करना तो तुलसी का उद्देश्य था ही, पर उससे भी अधिक अभीष्ट था लोकजीवन के पारलौकिक आदर्श को व्यक्त करना। वे सुख की क्षणभंगुरता जानते थे और यह भी कि आध्यात्मिकता मानव जीवन का वह तत्व है, जिसके बिना उसका वास्तविक मंगल हो नहीं सकता। तुलसी की दृष्टि में मनुष्य का परम मंगल है श्रीराम के चरणों में प्रीति। उनका दृढ़ विश्वास है कि श्रीराम की कृपा के बिना व्यक्ति को अपने लौकिक जीवन में भी सफलता नहीं मिल सकती। रामकथा के सभी आदर्श पात्र विभिन्न भावों के ईश्वरभक्त हैं। दशरथ और कौशल्या वात्सल्यभाव से, भरतादि भाई भ्रातृ और सेवक भाव से, हनुमान दास्यभाव से, सीता कान्तभाव से, यहाँ तक कि रावण भी वैरभाव से श्रीराम की भक्ति करते हैं। यह जानते हुए कि खर-दूषण का वध करनेवाले राम कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं, ये स्वयं नारायण हैं, वह कहता है –

तो मैं जाय बैर हठि करिहौं।
बिनु प्रयास भवसागर तरिहौं।।

इस प्रकार तुलसीदास न केवल सांसारिक, अपितु आध्यात्मिक दृष्टि से भी मानव के चरम मंगल का विधान करते हैं। लोक-मंगल की यह सर्वांगीण परिकल्पना ही महाकवि तुलसी के काव्य का प्राणतत्व और उसकी जनप्रियता का रहस्य है।

❑❑❑

हितोपदेश की कथाएँ (११)

('विग्रह' अर्थात् युद्ध नामक इस तीसरे भाग में आपने पढ़ा – कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नामक सरोवर में सभी जलचर पक्षियों का राजा हिरण्यगर्भ नामक राजहंस रहता था। दूर देश से लौटा दीर्घमुख नामक बगुले ने आकर उसे प्रणाम किया। राजा के कुशल पूछने पर वह बोला – 'जम्बु द्वीप में विंध्य नाम के पर्वत पर पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नाम का मोर रहता है। वहाँ घूमते पाकर उसके अनुचरों ने मुझे पकड़ लिया और उसके पास ले गए। उसने हमारे कर्पूर द्वीप को भी अपने ही राज्य के अन्तर्गत बताया और आपको युद्ध की चुनौती देने के लिए तोते को दूत बनाकर भेजने का निर्णय किया। तोते ने कहा कि यह बगुला दुष्ट है, अतः मैं इसके साथ नहीं जाऊँगा, क्योंकि – । – सं.)

– 'दुष्ट के साथ न बैठे, न कहीं जाय, क्योंकि कौए के साथ रहने से हंस और साथ बैठने व चलने से बतख मारा गया।'

राजा ने पूछा – 'यह कैसे?' तोता बोला –

कथा ४

उज्जयिनी के रास्ते में एक पीपल का वृक्ष है। वहाँ एक हंस और एक कौआ दोनों साथ साथ रहा करते थे। एक बार गर्मी के दिनों में एक थका हुआ मुसाफिर उधर आया और उसी वृक्ष के नीचे अपना धनुष रखकर सो गया। कुछ ही क्षण बाद उसके मुख पर से छाया हट गयी और धूप लगने लगी। उसके मुख पर धूप देखकर उस वृक्ष पर रहनेवाले हंस ने दया से प्रेरित हो अपने डैने फैलाकर उसके मुख पर छाया कर दी। गाढ़ी नींद आ जाने के कारण उसका मुँह खुल गया। तभी पराए सुख को सहन न कर सकनेवाले उस कौए ने उसके मुख में बीट कर दी और वहाँ से चम्पत हो गया। मुसाफिर अचकचा कर उठा और निगाह दौड़ाई तो हंस को पंख फैलाए देखा। बस, उसने धनुष उठाकर एक ही तीर से उसे मार डाला। इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'दुष्ट के साथ न बैठें' आदि।

अब बतख का वृतान्त भी बताता हूँ –

कथा ५

एक वृक्ष पर एक कौआ तथा एक बतख सुखपूर्वक निवास करते थे। एक बार प्राय: सभी पक्षी भगवान गरुड़ के आगमन के उपलक्ष्य में समुद्र के तट पर एकत्र हो रहे थे। कौए के साथ बतख भी चला। उस सड़क से एक ग्वाला जा रहा था। कौआ बारम्बार उसकी हँड़िया में से दही खाने लगा। अब ग्वाले ने हँड़िया को जमीन पर रखकर जो ऊपर देखा, तो कौआ और बतख दोनों दिखाई दिए। जब ग्वाले ने खदेड़ा, तो कौआ तो भाग निकला, परन्तु स्वभाव से भोलाभाला और धीरे उड़नेवाला बतख पकड़ा तथा मार डाला गया। इसी से मैं कहता हूँ – 'दुष्ट के साथ न बैठे, न कहीं जाय' आदि।

"तब मैंने कहा – 'भाई तोते! ऐसा क्यों कहते हो? मेरे लिए तो जैसे श्रीमान राजहंस हैं, वैसे ही तुम भी हो।' तोते ने कहा – 'ऐसा हो सकता है। पर – दुर्जनों द्वारा कही गई उचित और शास्त्र-सम्मत बातें भी असमय में फूले हुए फूलों के समान भय उत्पन्न करनेवाली होती हैं। देखो – दुष्टता तो तुम्हारी बातों से ही टपक रही है, क्योंकि तुम्हारा वचन ही इन दोनों राजाओं की लड़ाई में मूल कारण है।'

"इसके बाद राजा ने नियमानुसार सत्कार करके मुझे विदा किया। दूत तोता भी मेरे साथ ही आया है। यह सब सुनकर जो उचित समझिए, करिए।"

प्रधान-मंत्री चकवे ने हँसकर कहा – "महाराज! बगुले ने परदेश में जाकर भी यथाशक्ति राज्य का ही कार्य किया है। (राज्य को युद्ध में फँसा दिया है)। परन्तु महाराज! मूर्खों का स्वभाव यही है। क्योंकि – विद्वानों का कहना है कि सैकड़ों रुपये दे दे, पर झगड़ा मोल न ले। और बिना मतलब ही लड़ाई में उलझ जाना तो मूर्ख का लक्षण है।"

राजा ने कहा – "बीती बात पर शिकायत से क्या लाभ? जो सामने है, उस पर विचार करो।" चकवा बोला – "प्रभो! मैं एकान्त में कहूँगा। क्योंकि – रंग, आकार, ध्वनि और आँख व मुख के विकार से भी समझदार लोग मन की बातें जान लेते हैं। अतः सलाह एकान्त में ही करनी चाहिए।"

राजा हंस और मंत्री चक्रवाक वहीं बैठे रहे और बाकी लोग उठकर अन्यत्र चले गए। एकान्त हो जाने पर उसने कहा – "प्रभो! मुझे तो लगता है कि हमारे किसी विरोधी की प्रेरणा से बगुले ने ही यह झगड़ा खड़ा कर दिया है। क्योंकि –

वैद्यानामातुरः श्रेयान् व्यसनी यो नियोगिनाम्।
विदुषां जीवनं मूर्खः सद्वर्णो जीवनं सताम्॥

– 'वैद्य के लिए रोगी, विरोधी के लिए व्यसनी अर्थात् दुखी, विद्वानों के लिए मूर्ख और सज्जनों के लिए अच्छे वर्ण के लोग ही जीवन होते हैं।' "

राजा ने कहा – 'हो सकता है। मगर कारण की खोज तो बाद में होगी। अभी तो हमें अपने कर्तव्य पर विचार करना है।' चकवा बोला – 'ठीक है, गुप्तचर भेजा जाय। तभी शत्रु की इच्छा तथा बल आदि जाना जा सकेगा। कहा भी है –

भवेत्स्व-पर-राष्ट्राणां कार्याऽकार्याऽवलोकने।
चारश्चक्षुर्महीभर्त्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥

– 'अपने और दूसरे राष्ट्रों के भले तथा बुरे कार्यों का निरीक्षण करने के लिए राजा के पास गुप्तचर-रूपी नेत्र अवश्य होने चाहिए। जिस राजा के पास गुप्तचर नहीं होते, वह अन्धे के समान ही है।'

"वह एक दूसरे विश्वस्त गुप्तचर को भी साथ लेकर जाय। वह इसलिए कि वह स्वयं वहाँ रहता हुआ वहाँ की गुप्त बातें पता लगाकर उसके द्वारा अपने प्रभु के पास पहुँचा दिया करता है। कहा भी है – 'गुप्तचर को अपने अनुचरों के साथ किसी तीर्थ, आश्रम या देवालय में, तपस्वी का वेष बनाए शास्त्र की बातें समझने के बहाने निवास करना चाहिए।'

"गुप्तचर वही हो सकता है कि जो जल व स्थल – दोनों जगह चल-फिर सके। अतः बगुले को ही इस काम में लगाया जाय। इसी के जैसा एक दूसरा बगुला भी इसके साथ भेजा जाय। उसके घरवाले दरबार में रोक रखे जायँ। पर महाराज! ये सारे कार्य गुप्त रीति से ही होने चाहिए। क्योंकि –

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्तया।
इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता ।।

– 'छह कान यानी तीसरे आदमी तक पहुँचते ही परामर्श का भेद खुल जाता है। यही बाधा सन्देश भेजने में भी है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह स्वयं ही अपने मन्त्री के साथ एकान्त में सलाह करे।'

'हे राजन्! देखिए, नीतिवेत्ताओं का मत है कि भेद खुल जाने पर जो समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं, उनका समाधान किसी तरह नहीं हो सकता।' "

राजा ने सोचकर कहा – "मुझे एक उत्तम गुप्तचर मिल गया है।"

मन्त्री बोला – "तो आपने संग्राम में विजय भी पा ली।"

* * *

इसी बीच द्वारपाल ने खबर दी – "जम्बु द्वीप से आया हुआ तोता द्वार पर बैठा है।" राजा ने चकवे की ओर देखा। चकवे ने कहा – "वह अभी अतिथिशाला में जाकर ठहरे। बाद में उसे यहाँ लाकर उपस्थित करना।"

द्वारपाल उसे साथ लिए अतिथिशाला में चला गया। राजा ने कहा – "तो अब लड़ाई आ ही पहुँची है।" चकवा बोला – "पहले ही लड़ाई छेड़ देना उचित नहीं है। क्योंकि – 'वह सेवक और मंत्री दुष्ट है, जो बिना समझे, पहले ही अपने स्वामी को युद्ध की या अपनी भूमि त्यागने की सलाह दे।'

और – 'शत्रु को केवल युद्ध से जीतन की चेष्टा न करे, क्योंकि दो लड़नेवालों में से कौन जीतेगा, यह निश्चित नहीं।'

और भी – 'पहले साम से, दाम से, भेद से अथवा इन तीनों या एक एक से शत्रु को साधने का प्रयत्न करे।' और –

सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः।
अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्न हि ।।

– 'युद्ध होने के पूर्व तक तो सभी स्वयं को शूर-वीर बताते हैं। दूसरे की शक्ति को देखे बिना कौन अहंकार नहीं करता!'

और भी – 'जैसे लकड़ी के लट्ठे के द्वारा बड़ी चट्टान को भी उठाया जा सकता है, वैसे ही या सलाह-मशवरा का फल यह है कि इससे थोड़े उपाय से ही बड़ी सिद्धि मिल जाती है।'

"परन्तु यदि संग्राम आकर उपस्थित ही हो जाय, तो फिर उपाय ढूँढ़ना चाहिए। क्योंकि –

यथाकालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत्।
तद्वन्नीतिरियं देव, चिरात्फलति न क्षणात् ।।

– 'हे राजा! जैसे समय पर उद्योग करने से खेती कुछ बाद में ही फल देती है, वैसे ही यह राजनीति भी तत्काल नहीं, बल्कि कुछ काल बाद ही फलवती होती है।' और –

दूरे भीरुत्वमासन्ने शूरता महतो गुणः।
विपत्तौ च महाँल्लोके धीरतामनुगच्छति ।।

– 'विपत्तियों के दूर रहते उनसे डरना और निकट आ जाने पर शूरता के साथ उनका मुकाबला करना, यही महान् गुण है। इसीलिए बड़े लोग विपत्ति आने पर धैर्य का आश्रय लेते हैं।'

प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल।
अति-शीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूभृतः ।।

– 'उग्र स्वभाव सब सिद्धियों का प्रथम विघ्न है। जल अति शीतल होते हुए भी क्या पहाड़ों को फोड़ नहीं डालता!'

"महाराज, यह राजा चित्रवर्ण बड़ा बली है। और –

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।
तद्युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणां मृत्युमावहेत् ।।

– 'बलवान के साथ युद्ध करना बुद्धिमत्ता नहीं है। क्योंकि मनुष्य का हाथी के साथ लड़ना, अपनी मृत्यु को बुलाना है।'

और – 'जो उपयुक्त समय को देखे बिना ही सहसा शत्रु पर आक्रमण कर देता है, वह मूर्ख है; और बलवान के साथ लड़ने जाना तो चीटियों के पंख निकल आने के समान है।'

कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत्।
प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूर-सर्पवत् ।।

– दुर्दिन में कछुए की भाँति अपने अंगों को सिकोड़कर सारे प्रहारों को सहन कर लेना चाहिए। और अवसर आने पर क्रूर सर्प की भाँति फुफकारते हुए उठ खड़े होना चाहिए।'

अतः – 'जैसे नदी की धारा अपने तट के वृक्षों तथा घासों को समान रूप से उखाड़ने में सक्षम होती है, वैसे ही उपाय (नीति) को जाननेवाला व्यक्ति बड़ी व छोटी – दोनों ही प्रकार की कठिनाइयों (शत्रुओं) को समान रूप से दूर कर देता है।'

"अतः किले की तैयारी होने तक उसके दूत तोते को भी आश्वासन देकर यहीं रोककर रख लिय जाय। क्योंकि – 'किले की दीवार पर बैठा हुआ एक धनुर्धारी वीर सैकड़ों वीरों से और सैकड़ों वीर लाखों से लड़ सकते हैं। युद्ध में किले का ऐसा ही महत्त्व है।

और – 'दुर्गरहित देश किसी भी शत्रु से पराजित हो जाता है। बिना दुर्ग के राजा जलयान से गिरे हुए मनुष्य की भाँति लाचार हो जाता है।'

'किले को पहाड़, नदी अथवा मरुभूमि के किनारे बनवाना चाहिए। वह खूब गहरी और चौड़ी खाई से घिरा और ऊँची चहारदीवारी-वाला हो। वह जरूरी यंत्रों व जल से युक्त हो।'

'किले में ये सात गुण हों – वह काफी लम्बा-चौड़ा हो, पहुँचने में दुर्गम हो, उसमें जल, अन्न तथा ईंधन का संग्रह हो और उसमें आने-जाने के गुप्त मार्ग हों।

राजा ने कहा – "दुर्ग-निर्माण के कार्य में किसे लगाया जाय?" चकवा बोला – "जो जिस कार्य में निपुण हो, उसी को उस काम में लगाना चाहिए। क्योंकि शास्त्रज्ञ व्यक्ति भी अनजाने काम में हाथ डालने पर मूर्ख बन जाता है। अत: सारस को बुलवाइये।"

सारस को बुलाया गया। सारस को आया देखकर राजा ने कहा – 'ओ सारस ! तुम जल्दी ही दुर्ग के लिए स्थान खोजने के काम में लग जाओ।'

सारस ने प्रणाम करके कहा – 'राजन् ! बहुत दिनों का देखा-भाला हुआ यह तालाब ही हमारा किला है। पर इसके बीचवाले द्वीप में हर तरह की सामग्रियाँ जुटानी हैं। और – 'सब संग्रहों की अपेक्षा धान्य का संग्रह ही उत्तम है, क्योंकि भूख लगने पर रत्न को मुख में रख लेने से जीवन की रक्षा नहीं हो सकेगी। और –

ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः ।
गृहीतं च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते ।।

– 'सब रसों में लवण रस उत्तम है। क्योंकि लवणरहित व्यञ्जन खाने पर गोबर जैसा लगता है।'

राजा ने कहा – "जाओ और शीघ्र सारे आवश्यक कार्य पूरे कर डालो।" द्वारपाल ने पुन: आकर कहा – "महाराज ! सिंहद्वीप से मेघवर्ण नाम का कौवा आया है और अपने परिवार के साथ द्वार पर बैठा है। वह आपसे मिलना चाहता है।"

राजा ने कहा – "कौए सब कुछ जाननेवाले और बहुत कुछ देखनेवाले होते हैं। अत: उसे रख लेना चाहिए।"

चकवे ने कहा – "आपका कथन ठीक है, किन्तु कौआ थलचर पक्षी है – जलचर नहीं। और फिर हमारे शत्रु पक्ष का है, अत: उसे क्यों रखा जाय? कहा भी है –

आत्मपक्षं परित्यज्य परपक्षेषु यो रतः ।
स परैर्हन्यते मूढो नीलवर्णश्रृगालवत् ।।

– 'जो व्यक्ति अपना पक्ष त्यागकर शत्रुओं से जा मिलता है, वह मूर्ख नीलवर्ण वाले सियार जैसा ही मारा जाता है।' "

राजा ने पूछा – "सो कैसे?" मंत्री कहने लगा –

कथा ६

"एक वन में एक सियार रहता था। नगर के आसपास घूमता हुआ एक दिन वह किसी धोबी के नील से भरे नाँद में गिर पड़ा और उसमें से निकल नहीं सका। वह चुपचाप मुर्दे जैसा उसी में पड़ा रहा। सबेरे बर्तन का मालिक उसे मरा हुआ समझकर कहीं दूर ले गया और फेंक दिया। सियार वहाँ से उठकर भाग गया।

इसके बाद जब वह फिर जंगल में पहुँचा और अपना नीला रंग देखा, तो उसने सोचा – "अब मैं उत्तम वर्ण का हो गया हूँ, तो फिर क्यों न इसी से अपनी उन्नति कर लूँ।' ऐसा सोचकर उसने सभी सियारों को एकत्र किया और उनसे बोला – 'भगवती वनदेवी ने स्वयं अपने हाथों सभी औषधियो तथा रसों से अभिषेक करके मुझे इस जंगल का राजा बना दिया है। अत: आज से इस वन के सभी जीव मेरी आज्ञानुसार चलें।"

जब सियारों ने उसके शरीर का विशेष वर्ण देखा, तो साष्टाङ्ग प्रणाम करके कहा – "श्रीमान् की जैसी आज्ञा !"

इस प्रकार उस सियार का सारे वनवासियों पर आधिपत्य हो गया। कुछ काल बाद वह अपनी जातिवालों में भी अपने को बड़ा मानने लगा। जब उसे सिंह-व्याघ्र आदि जैसे जीव सेवकों के रूप में मिल गए, तब लज्जित होकर उसने सभी सियारों को अपमानपूर्वक हटा दिया। सियारों को दुखी देखकर एक बूढ़े सियार ने प्रतिज्ञा की – "तुम लोग दुखी न होओ। इस नालायक ने हम नीतिज्ञों और मर्म जाननेवालों को अपने पास से अलग करके हमारा अपमान किया है, तो अब कोई ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे यह नष्ट हो जाय। बाघ आदि जीव केवल इसके शरीर का रंग देखकर धोखे में आ गए हैं। इसी कारण ये इसे सियार की जगह वनराज समझ बैठे हैं। अब कोई ऐसा उपाय करो कि जिससे वे सब इसे पहचान लें। इसके लिए तुम सभी आज शाम को निकट ही के मैदान में एक साथ मिलकर उच्च स्वर में चिल्लाओ। उस शब्द को सुनकर जाति-स्वभाव से वह भी अवश्य चिल्लाएगा।" उनके वैसा करने पर वही हुआ (यानि सियारों की वाणी सुनकर ये वनराज भी 'हुआँ' 'हुआँ' करने लगे) क्योंकि –

'जिसका जो स्वभाव है, उसे छुड़ाना कठिन है। यदि कुत्ता राजा बना दिया जाय, तो क्या वह जूता नहीं चबाएगा?'

उसका शब्द सुनकर भेद प्रकट हो जाने पर एक बाघ ने उसे मार डाला। कहा भी है –

'यदि शत्रु हमारा दोष, भेद की बात और बल को जान लेता है, तो जिस प्रकार सूखे वृक्ष को आग जलाती है, उसी भाँति वह भी जलाता रहता है।

इसी से मैं कहता हूँ – 'जो अपना पक्ष त्यागकर' आदि।

राजा ने कहा – "यदि ऐसा है तो भी उससे मिल तो लेना ही चाहिए, क्योंकि बहुत दूर से आया है और उसे आश्रय देने के विषय में भी विचार कर लेना चाहिए।"

चकवा बोला – "महाराज ! दूत भेज दिया है, किला भी तैयार है। अब तोते को बुलाकर उससे भी बातचीत करके विदा कर देना चाहिए, पर आप अपने सैनिक आदि दल-बल के साथ तथा दूर रहकर ही उससे बातें करें। क्योंकि – 'कपट-दूत के माध्यम से ही चाणक्य ने नन्द को मार डाला था। अतः राजा के लिए उचित यह है कि कुछ वीरों के साथ रहता हुआ दूर ही से दूत से भेंट करे, पास न आने दे।' "

अब सभा लगी। तोता और कौआ बुलाए गए। तोते को आसन दिया गया। वह उस पर बैठ गया और सिर को थोड़ा ऊँचा उठाकर बोला – "हे हिरण्यगर्भ ! हमारे महाराजाधिराज चित्रवर्ण तुम्हें आज्ञा देते हैं कि यदि तुम्हें अपनी जान और सम्पत्ति प्रिय हो, तो अभी आकर हमारे चरणों को प्रणाम करो। अन्यथा अपने निवास हेतु कोई अन्य जगह देख लो।"

राजा ने क्रोधावेश में आकर कहा – "अरे ! यहाँ क्या कोई ऐसा नहीं है, जो उसका गर्दन पकड़कर इसे हमारे सामने से दूर कर दे?"

मेघवर्ण कौए ने उठकर कहा – "महाराज ! आज्ञा दीजिए। मैं अभी इस दुष्ट तोते को मार डालता हूँ।"

सर्वज्ञ नामक चकवे ने राजा हिरण्यगर्भ और मेघवर्ण कौए को समझाते हुए कहा – "सुनिए –

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति
सत्यं न तद्यच्छलमभ्युपैति ।।

– 'वह सभा सभा नहीं है, जिसमें वृद्ध न हों। वे वृद्ध वृद्ध नहीं हैं, जो धर्म का उपदेश न दें। वह धर्म धर्म नहीं है, जिसमें सत्य की मात्रा न हो और वह सत्य सत्य नहीं है, जो छल-कपट से परिपूर्ण हो।'

"राजधर्म तो यही कहता है – 'दूत यदि म्लेच्छ भी हो, तो वह अवध्य है, क्योंकि दूत ही राजा का मुख है। सिर पर तलवार लटकी हो तो भी दूत झूठ नहीं बोलेगा।'

और भी – 'दूत के मुख से अपनी निन्दा और शत्रु की बड़ाई सुनकर भला कौन राजा उस पर ध्यान देता है? दूत तो अवध्य होने के कारण भला-बुरा सब कुछ बक जाता है।' "

इस पर राजा और कौआ दोनों शान्त हो गए। तोंता भी उठकर वहाँ से चल पड़ा, परन्तु मंत्री चकवा तत्काल उसे लौटा लाया और समझा-बुझाकर स्वर्ण के आभूषण तथा वस्त्र आदि देकर विदा किया। तोता अपने देश लौट गया।

❖ **(क्रमशः)** ❖

मैंने पकड़े चरण तुम्हारे

विवेक प्रकाश सिंह

मैंने पकड़े चरण तुम्हारे,
ठाकुर अब न छोड़ूँगा।
विकट परीक्षा भी आ जाए,
तुमसे मुख न मोड़ूँगा ।।

दुःख की तपती दोपहरी में,
तुम हो सुख की मधुर फुहार।
अति सौभाग्य हमारे हैं और
है कृतार्थ सारा संसार ।।
तजकर माया-मोह जगत् का
तुमसे नाता जोड़ूँगा ।। विकट०।।

आए तुम निपट निरक्षर बन,
जग को अमृत सम ज्ञान दिया।
कलियुग में धर्मप्रसारण को,
युग विजयी शिष्य महान् दिया ।।

माया में भूली जनता को,
जीने का पथ दिखलाया।
निष्काम भाव से रहने का,
औ पाठ प्रेम का सिखलाया ।।
अपने अन्तर में प्रभु मेरे,
मैं ज्ञान तुम्हारा घोलूँगा ।। विकट०।।

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

सर्व-धर्म-समभाव की धारणा

स्वामी आत्मानन्द

मानव-जाति के भाग्य के निर्माण में संसार में जितनी शक्तियों ने योगदान दिया है और दे रही हैं, उन सबमें धर्म के रूप में प्रकट होनेवाली शक्ति सबसे बलवती रही है। सभी सामाजिक सगठनों के मूल में कहीं-न-कहीं यही अद्‌भुत शक्ति काम करती रही है, तथा अब तक मानवता की विविध इकाइयों को सघटित करनेवाली सर्वश्रेष्ठ प्रेरणा इसी शक्ति से प्राप्त हुई है। हम सभी जानते हैं कि धर्म से जिस एकत्व के सम्बन्ध का उद्‌भव होता है, वह जाति, वंश और क्षेत्र के आधार पर होनेवाले एकत्व के सम्बन्ध से कहीं अधिक सुदृढ़ सिद्ध होता है। यह तो जानी-मानी बात है कि एक ईश्वर को पूजनेवाले तथा एक धर्म में विश्वास करनेवाले लोग जिस दृढ़ता और शक्ति से एक दूसरे का साथ देते हैं, वह एक ही वश के लोगों की क्या बात, भाई-भाई में भी देखने को नहीं मिलता। पर यह भी सत्य है कि यद्यपि मानव-जीवन में धर्म ही सर्वाधिक शान्तिदायी है, तथापि उसने ऐसी भयंकरता की भी सृष्टि की है, जैसी कि किसी दूसरे ने नहीं की। यह सही है कि धर्म ने ही सर्वापेक्षा अधिक शान्ति और प्रेम का विस्तार किया है, पर इसके साथ ही उसने सर्वापेक्षा भीषण घृणा और विद्वेष की भी सृष्टि की है। यह सच है कि धर्म ने ही मनुष्य के हृदय में भ्रातृ-भाव की प्रतिष्ठा की है, पर इसके साथ ही यह भी सच है कि धर्म ने मनुष्यों में सर्वापेक्षा कठोर शत्रुता और विद्वेष का भाव भी उद्दीप्त किया है। धर्म ने ही मनुष्यों और पशुओं तक के लिए सबसे अधिक दातव्य चिकित्सालयों की स्थापना की है, फिर धर्म ने ही पृथ्वी में सबसे अधिक रक्त की नदियाँ भी बहायी हैं। इसके बावजूद धर्मों और सम्प्रदायों के कलह और कोलाहल, द्वन्द्व और सघर्ष, अविश्वास और ईर्ष्या-द्वेष में से समय-समय पर इस प्रकार की वज्र-गम्भीर वाणियाँ निकलती रही हैं, जिन्होंने इस सारे कोलाहल को दबाकर ससार में शान्ति और मेल की तीव्र घोषणा की है। इन वाणियों ने धर्मों के बीच पारस्परिक सद्‌भाव को बढ़ाने पर बल दिया है, तथापि प्रबल धार्मिक संघर्ष की भूमिका में ऐसे प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि क्या कभी धर्म-सामजस्य का अविच्छिन्न राज्य होना सम्भव है?

सर्वधर्म-समभाव के लिए विभिन्न धर्मावलम्बियों का इस सत्य पर आस्था होना आवश्यक है कि विभिन्न धर्म एक ही सत्य को पाने के अलग-अलग रास्ते हैं। यदि मैं केवल अपने धर्म को सत्य मानूँ और दूसरे के धर्म को मिथ्या, तो ऐसे धार्मिक दुराग्रह से उत्पन्न झगड़ों को नहीं रोका जा सकता और Èk yÐaãñÈ iÇui समभाव एक कल्पना. मात्र रह जाता है। धर्म-समभाव के लिए न्यूनतम शर्त यह है कि व्यक्ति 'धर्म' शब्द के सही अर्थ को जाने और उसे अपने जीवन से सम्बन्धित करने का प्रयास करे। जैसे परिधि से वृत्त के केन्द्र पर पहुँचने के लिए त्रिज्याओं के अनन्त मार्ग हैं, उसी प्रकार उस परमात्मा रूपी केन्द्र पर पहुँचने के लिए अनगिनत रास्ते हैं। जैसे प्रत्येक त्रिज्या सत्य है, उसी प्रकार परमात्मा के पास जाने का प्रत्येक रास्ता सही है। एक एक त्रिज्या मानो एक एक धर्म है। श्रीरामकृष्ण परमहंस ने अपने जीवन में विभिन्न धर्मों की साधनाएँ की थीं और उनकी सत्यता का अनुभव कर घोषणा की थी – 'जितने मत उतने पथ'। विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद भी घोषित करता है - **'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'** – 'सत्य एक है ज्ञानीजन उसी एक सत्य को भिन्न-भिन्न प्रकार से पुकारते हैं।' पुष्पदन्त भी 'शिवमहिम्न-स्त्रोत' में लिखते हैं –

रुचीनां वैचित्र्यात् ऋजु-कुटिल नाना पथ-जुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

– "जिस प्रकार पहाड़ों से निकलनेवाली नदियाँ, टेढ़े या सीधे रास्तों का अवलम्बन करती हुई अन्त में सागर में जाकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार हे परमात्मा, मनुष्य विभिन्न स्वभावों के वशवर्ती हो भले ही सीधे या टेढ़े रास्तों से चलते हुए दिखें, पर अन्त में एक तुम्हीं को आकर प्राप्त होते हैं।"

ये ऐसी अनुभूतियाँ हैं, जो सर्वधर्म-समभाव के पथ को प्रशस्त करती हैं। ये अनुभूतियाँ बतलाती हैं कि मनुष्य को ऐसा कट्टर नहीं होना चाहिए कि वह समझने लगे कि उसका केवल अपना रास्ता ही सही है। उसे 'ही' वाद से बचना चाहिए और 'भी'-वाद को स्वीकृति देनी चाहिए। तुम्हारा रास्ता भी सही हो सकता है – यह 'भी' वाद है। इस 'भी'-वाद से मनुष्य एकागी नहीं हो पाता। यह भी कैसी विडम्बना है कि एक ओर तो मनुष्य ईश्वर को असीम-अनन्त मानता है और दूसरी ओर उसे अपने सीमित-सान्त मन के द्वारा पकड़ लेने का दावा करता है। केवल अपने धर्म को सत्य माननेवाले लोग यही तो दावा करते हैं कि सारा सत्य उन्हीं के पास है। इसका तात्पर्य यही तो हुआ कि वे ईश्वर को पूरी तरह समझ लेने का दावा करते हैं। पर क्या असीम तत्त्व सीमित मन की

परिधि में समा सकता है? क्या अनन्त ईश्वर को सान्त मन घेर सकता है? साम्प्रदायिक व्यक्ति उन अन्धों के समान होता है, जो हाथी देखने गये थे और जिन्होंने हाथी को डोर, खम्भा, अजगर, दीवाल या सूप के रूप में देखा था। ये अन्धे 'ही' सिद्धान्त वाले थे, इसलिए परस्पर झगड़ रहे थे, पर उनका आँखोंवाला मित्र, जो उन सबको हाथी दिखलाने ले गया था, 'भी' सिद्धान्त का हिमायती था, क्योंकि उसने देखा था कि हाथी डोर के समान भी है और खम्भे के समान भी, अजगर के समान भी है और दीवाल या सूप के समान भी, और साथ ही इन सबसे न्यारा भी है। इसलिए वह किसी से उलझा नहीं, बल्कि उलझनेवालों को शान्त कर रहा था।

यही दृष्टान्त धर्म के माननेवालों पर लागू होता है। बहुसख्य धर्म के माननेवाले लोग दुर्भाग्य से उक्त अन्धों के समान होते हैं, इसलिए उन्हें धर्म-समभाव में आस्था नहीं होती। वे कूप-मण्डूक के समान होते हैं, जिसके लिए अपने कुएँ से बढ़कर और कोई जलाशय नहीं होता। जैसे कूप-मण्डूक सागर की कल्पना तक नहीं कर सकता, उसी प्रकार धर्मान्ध व्यक्ति यह सोच नहीं सकता कि उसके धर्म के अलावे भी धर्म हो सकता है। उसे अपने धर्म का पुराण सत्य और दूसरे धर्म का पुराण मिथ्या मालूम होता है। धर्मान्ध व्यक्ति धर्म-समभाव की कल्पना तक नहीं कर सकता। वह मात्र अपने मत को सत्य मानता हुआ यह आग्रह करता है कि दूसरे भी उसके मत पर विश्वास करें। और इतना ही करके वह शान्त नहीं होता, वरन् समझता है कि जो उसके मत में विश्वास नहीं करते, वे अवश्य किसी भयानक स्थान में जाएँगे। कोई-कोई लोग तो दूसरों को अपने मत में लाने के लिए तलवार तक काम में लाते हैं। वे ऐसा दुष्टता से करते हों, सो नहीं। वे वस्तुतः धर्मान्धता नामक व्याधि से ग्रस्त होकर ऐसा करते हैं। यह धर्मान्धता एक भयानक बीमारी है। मनुष्यों में जितनी दुष्ट-बुद्धि है, वह सभी धर्मान्धता द्वारा जगायी गयी है। उसके द्वारा क्रोध उत्पन्न होता है, स्नायु-समूह अतिशय तन जाता है और मनुष्य शेर जैसा हो जाता है।

इस भयानक रोग को दूर करने का पहला सोपान है 'भी'-सिद्धान्त – यह समझना कि दूसरा धर्म भी सत्य हो सकता है। उसका दूसरा सोपान है – परधर्म-सहिष्णुता। जब हमने समझ लिया कि दूसरा धर्म भी सत्य हो सकता है, तो उसके प्रति सहिष्णुता का भाव अपने मन में जगाना। इसका तीसरा और अन्तिम सोपान है – सर्वधर्म-समभाव, जहाँ हम दूसरे धर्म के प्रति केवल सहिष्णु नहीं होते वरन् उसे समान रूप से सत्य मानकर ग्रहण करते हैं। इस सर्वधर्म-समभाव के मर्म को उद्घाटित करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कैलीफोर्निया में सन् १९०० ई. में कहा था –

अतएव acceptance यानी ग्रहण ही हमारा मूलमंत्र होना चाहिए – वर्जन नहीं। केवल परधर्म-सहिष्णुता नहीं, क्योंकि तथाकथित सहिष्णुता प्रायः ईश-निन्दा होती है, इसलिए मैं उस पर विश्वास नहीं करता। मैं ग्रहण में विश्वास करता हूँ। मैं क्यों परधर्म-सहिष्णु होने लगा! परधर्म-सहिष्णु कहने से मैं यह समझता हूँ कि कोई धर्म अन्याय कर रहा है और मैं कृपापूर्वक उसे जीने की आज्ञा दे रहा हूँ। तुम-जैसा या मुझ-जैसा कोई आदमी किसी को कृपापूर्वक जीवित रख सकता है – यह समझना क्या ईश-निन्दा नहीं है? **अतीत के धर्म-सम्प्रदायों को सत्य कहकर ग्रहण करके मैं उन सबके साथ ही आराधना करूँगा।** प्रत्येक सम्प्रदाय जिस भाव से ईश्वर की आराधना करता है, मैं उनमें से प्रत्येक के साथ ठीक उसी भाव से आराधना करूँगा। मैं मुसलमानों के साथ मस्जिद में जाऊँगा, ईसाइयों के साथ गिरजे में जाकर क्रूसित ईसा के सामने घुटने टेकूँगा, बौद्धों के मन्दिर में प्रवेश कर बुद्ध और संघ की शरण लूँगा और अरण्य में जाकर हिन्दुओं के पास बैठकर ध्यान में निमग्न हो, उनकी भाँति सबके हृदय को उद्भासित करनेवाली ज्योति के दर्शन करने में सचेष्ट होऊँगा।

''केवल इतना ही नहीं, जो पीछे आएँगे, उनके लिए भी मैं अपना हृदय उन्मुक्त रखूँगा। क्या ईश्वर की पुस्तक समाप्त हो गयी? – अथवा अभी भी वह क्रमशः प्रकाशित हो रही है? संसार की यह आध्यात्मिक अनुभूति एक अद्भुत पुस्तक है। बाइबिल, वेद, कुरान तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थ-समूह मानो उसी पुस्तक के एक एक पृष्ठ हैं और उसके असख्य पृष्ठ अभी भी अप्रकाशित हैं। मेरा हृदय उन सबके लिए उन्मुक्त रहेगा। हम वर्तमान में तो हैं ही, किन्तु अनन्त भविष्य की भावराशि ग्रहण करने के लिए भी हमको प्रस्तुत रहना पड़ेगा। **अतीत में जो कुछ भी हुआ है, वह सब हम ग्रहण करेंगे, वर्तमान ज्ञान-ज्योति का उपभोग करेंगे और भविष्य में जो उपस्थित होंगे, उन्हें ग्रहण करने के लिए हृदय के सब दरवाजों को उन्मुक्त रखेंगे।** अतीत के ऋषिकुल को प्रणाम, वर्तमान के महापुरुषों को प्रणाम और जो जो भविष्य में आएँगे, उन सबको प्रणाम।'' (२०-२-१९७९ को आकाशवाणी से प्रसारित)

मानवता की झाँकी (३)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओ को हम क्रमशः प्रकाशित कर रहे है। – सं.)

प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें

परिव्राजक संन्यासी चम्बा पहाड़ (पंजाब) से नीचे पठानकोट की ओर आ रहा है। वर्षा की ऋतु है और खूब वर्षा हो रही है। पास में छाता नहीं है – एक पतले कम्बल से ही छाते का काम लिया जा रहा है, पर वह भी पानी से भीगकर बोझ बन जाता है, अतः उसे बार बार निचोड़कर शरीर ढँकना पड़ता है। १२-१३ मील पर एक गाँव है – रास्ते में ठहरने योग्य अन्य कोई स्थान नहीं है। पठानकोट के इस संक्षिप्त पथ (Short Road) की लम्बाई पठानकोट–डलहौजी–चम्बा के सड़क-मार्ग से १५-२० मील कम है।

दूर से गाँव दिखाई पड़ा। एक पुलिया पार होकर जाना है, पर... हाय रास्ता धँसकर बहुत दूर तक लुप्त हो गया है ! सामने जाने के लिए कोई मार्ग नजर नहीं आने से वह हैरान है कि क्या करे? इतने में एक पगडंडी नजर आयी, जो करीब आधा मील नीचे नीचे एकदम चम्बल नदी के पास तक गयी है; और जो झरना रास्ता तोड़कर प्रबल वेग से नदी से जा मिल रहा है – उसी के उस पार जाकर सड़क से मिली है। सामने पुल पर जाने का बस यही एकमात्र मार्ग है – बाकी ऊपर की ओर था ऊँचा – खड़ा पहाड़, उस पर चढ़ने का कोई मार्ग नहीं था। परिव्राजक चले नीचे की ओर और चम्बल के पास जा पहुँचे।

चम्बल नदी विनाश की मूर्ति धारण किए हुए नाचती तथा गर्जना करती हुई भयंकर वेग से दौड़ रही थी। वह पानी से लबालब भरी थी और अब उसका प्रवाह ऊँचे पुल से जरा-सा ही नीचे रह गया था ! परन्तु उस झरने की गति यहाँ इतनी तीव्र थी कि जरा भी पैर फिसला कि सीधे चम्बल की गोद में। पत्थरों पर से होकर उछलती-कूदती हुई नदी ऐसी वेगवती थी कि तृण भी द्विखंडित हो जाय और उसमें पड़ते ही क्षण भर में मृत्यु होनी निश्चित थी।

अब क्या उपाय हो? उस भयंकर वर्षा में सहारा दे सकनेवाला कोई भी मनुष्य बाहर नहीं दिख रहा था। अतः पार जाने की चेष्टा करना ही एकमात्र उपाय था। झरने के पानी में दो कदम आगे जाते ही उसका एक पाँव आधे से अधिक गहरे कीचड़ में घुस गया, हाथ की लम्बी पहाड़ी लकड़ी भी लगभग पौन भाग भीतर चली गई और संन्यासी असहाय अवस्था में फँस गया। अब नीचे झरने के पानी का भार था और ऊपर से मेघराज ने भी वर्षा चालू रखी थी। हिमालय की बर्फीली हवा चल रही थी और सब कपड़े आदि भीग जाने से अकल्पनीय तकलीफ हो रही थी, अब मृत्यु सुनिश्चित जानकर संन्यासी अन्तिम स्मरण करने लगा – आँखे बन्द कर मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगा। मन में एकमात्र यहीं भाव था – 'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो !'

भयंकर आवाज हुई। उसने चौंककर देखा कि जहाँ वह खड़ा है, ठीक उसके ऊपर ही झरने में फिर से मिट्टी तथा चट्टानें धसककर उसी की ओर चले आ रहे हैं। बस, ये सब आकर उसे दबा देंगे, अब जीवन की कोई आशा नहीं है। परमेश्वर की मर्जी शायद यही हो ! जय भगवान ! वह आँखें मूँदे मौत की प्रतीक्षा में शान्त खड़ा है, मगर यह क्या? बड़ी बड़ी चट्टानें (Bolders) बिल्कुल हाथ भर फासले पर आकर अटक गईं? वर्षा भी कम हो गयी। न जाने उनकी क्या मर्जी है ! अस्तु। क्यों न फँसे हुए पाँव को निकालने की चेष्टा की जाय? हाथ के पास ही जो बड़ा पत्थर (Bolder) खड़ा था, उसी पर टेक देकर पैर खींचकर निकाल लिया और देखा कि ऊपर से जो चट्टानें तथा मिट्टी धसक गई थी, उसके द्वारा पास में ही रास्ता बन गया है और उसी पर से झरने के पार जाना सहज ही सम्भव हुआ। दस हाथ ही नीचे उन्मादिनी चम्बल दौड़ रही थी। 'प्रभो, तुम्हारी असीम दया ! जिसको निश्चित मृत्यु समझा था, वही निश्चित जीवन का सहारा बना ! कौन समझेगा तुम्हारी लीला ! जय भगवान !'' आभारपूर्ण हृदय में और भी बहुत-सी बातें आयीं, अनेक प्रेमपूर्ण उद्गार निकले, पर वे अन्तर्यामी ही जानें, यहाँ कहने का उपयुक्त स्थल नहीं।

प्रेम उमड़ते हृदय के साथ संन्यासी पुल की ओर आगे बढ़ा, जहाँ से गाँव निकट दिखता था। उस पुल के इस ओर एक छोटी-सी पहाड़ी दुकान थी, जिसमें अनाज-कपड़े आदि आवश्यक चीजें थी। पास पहुँचते ही दुकानदार बोला – "पुल बन्द है, चाबी लगी है, जाने का हुक्म नहीं है, पुल खतरे में है, बहुत पानी आ जाने से करीब हाथ भर ही बाकी है, उधर डूबने को मत जाइए !" – "अरे भाई, अगर चाबी हो, तो खोल दो, गाँव में चला जाय। यहाँ कहाँ ठहरे?"

इतने में एक अन्य भाई अन्दर से निकले और संन्यासी को देखकर कहा – "आइए महाराज, पधारिए। अरे, आप तो भीग गए हैं। रास्ता टूट गया है, उतरे कैसे? आइए, जरा आग तापिये, कपड़े सुखा लीजिए, ऐसे रहने से बीमार हो जाएँगे। आप चाय तो पीते हैं न? 'चा बनाव।' अरे, भीगकर

अंग सफेद पड़ गये हैं।" और वह हाथ पकड़कर अन्दर आग के पास ले गया। "सब खोल डालिए। लीजिए, यह कपड़ा। नया है। किसी ने बाँधा नहीं, पहन लीजिए, यह नया कम्बल ओढ़ लीजिए। इसे छोड़िए। अरे, यह तो पानी से भरा है।"

आग के पास और भी दो-तीन कम्बल बिछाकर वह बोला, "इस पर बैठिए, गरम रहेगा।" आग को प्रज्वलित करने के बाद गुड़ डालकर गरम चाय बनायी और कटोरा भर पीने को दिया। चाय पी लेने के बाद, "महाराज, आप कम्बल ओढ़कर सो जाइये, आराम से सो जाइये, तबीयत ठीक हो जाएगी। कल पुल खुलने पर चले जाना। वर्षा बन्द है, यदि रात में भी बन्द रही, तो पानी का भार कम हो जायेगा और पुल खुल जाएगा। आप आराम से सो जाइए।"

संन्यासी थका हुआ था। मृत्यु-मुख से निकल आने से मानसिक थकावट भी थी। परिस्थितिजन्य वह भयानक मानसिक आघात! सोते ही नींद आ गई। शाम के ५ बजे से रात के १० बजे तक खूब नींद ली। जब जागा, तो दोनों दुकानदार-भाई तम्बाकू पीते हुए बातें कर रहे थे। एक ने उठकर गरम पानी दिया, "मुँह धो लीजिए, खिचड़ी तैयार है, गरम-गरम खा लीजिए, स्वस्थ हो जाइयेगा।"

संन्यासी को खूब जोरों की भूख लगी थी – हाथ-मुख धोने के बाद वह अमृत-समान पतली खिचड़ी खा गया। बात करने की मनःस्थिति नहीं थी। विगत घटना को स्मरण कर मन-ही-मन कह रहा था – "ईश्वरीय लीला को भला कौन समझ सकेगा? जिसके द्वारा मृत्यु निश्चित थी, उसी से सहारा मिला।... और इन पहाड़ी भाइयों के मन में प्रेरणा देकर अवश्य उन्होंने ही मदद की है। इतने प्रेम से सत्कार! आश्चर्य!" ... – "आप सो जाइये महाराज, फिर सुबह चाय बनाने के समय बुलाऊँगा!"

सुबह उठकर देखा, तो वे जागकर बैठे थे। बाहर जोरों से वर्षा हो रही थी। सज्जनों ने कपड़े तथा कम्बल सुखाकर पास में ही रख दिये थे। संन्यासी स्नान आदि निपटे कि चाय तैयार मिली! – "आज यहीं ठहरिए, पुल शायद आज भी न खुलेगा, चिन्ता की बात नहीं, हम सत्संग करेंगे।"

दोपहर को भोजन के बाद प्रश्नोत्तर के रूप में कुछ धर्म-चर्चा हुई। बड़े प्रेमपूर्वक प्रसंग करने लगे। वर्षा बन्द हो गयी थी। उस पार से पुलिसवाले ने आकर पुल का द्वार खोलने को कहा। द्वार खुलते ही परिव्राजक संन्यासी सप्रेम कृतज्ञता तथा अनेक आशीर्वाद देकर विदा ले गाँव की ओर चल पड़ा।

मानवता का यह सुन्दर रूप देख वह मुग्ध हो गया था।

माँ का हृदय

वर्षा का मौसम था, भाद्र का महीना, तेज हवा चलने पर भी दिन में गरमी पड़ती थी। धान की फसल पकने की तैयारी में है। चारों ओर फैले धान के खेत अपूर्व शोभा से दिल को मोहित कर रहे हैं। घाट, मैदान, वनस्पतियाँ – सब मानो हरे रंग के वस्त्र पहनकर जगन्नाथ का मन बहला रहे हैं – जिधर देखो उधर अनुपम सौन्दर्य की छटा है, पर सूर्य नारायण ताप खूब बिखेर रहे हैं, दोपहर को तो असह्य हो उठता है।

उसी समय एक परिव्राजक संन्यासी कलकत्ते से कुछ दूरी पर स्थित बंगाल के एक तीर्थ त्रिवेणी (जिसे मुक्त त्रिवेणी भी कहते हैं) से बर्द्धमान शहर को जाने के लिए निकल पड़ा था। बर्द्धमान वहाँ से काफी दूर था, इसलिए जल्दी रवाना हुआ। पर त्रिवेणी शहर अभी पार भी न हो पाया था कि धूप से क्लान्त और पिपासा से परेशान हो गया। एक छोटे-से पुराने मकान के द्वार पर कोई प्रौढ़ा देवी खड़ी थीं, विधवा थीं, अतः बंगाल की प्रथा के अनुसार सफेद उज्ज्वल वस्त्र (बिना किनारे के) पहने हुए थीं। (बंगाल की विधवा स्त्रियाँ शरीर पर कोई भी अलंकार नहीं रखतीं)। परिव्राजक ने पास पहुँच कर कहा –"माँ जी, बहुत प्यास लगी है, पानी पिलाइये।"

सौम्य दृष्टि डालकर वे भीतर गयीं और लोटा भरकर स्वच्छ जल ले आयीं। हाथ में एक मिसरी का टुकड़ा देकर वे बोलीं – "केवल पानी दिया नहीं जाता, इस समय बड़ी तेज धूप है, यह मिसरी खाकर फिर पानी पीजिए। आप भिक्षा पा चुके हैं क्या? भिक्षा का समय तो बीत चुका है! ... इतनी कड़ी धूप में क्यों निकल पड़े? यह धूप बहुत खराब है, इससे बुखार आता है। आपको कहाँ जाना है? जब सुना – बर्द्धमान, तो बोलीं – "अरे, वह तो बहुत दूर है। .. परन्तु यह ऋतु इधर बहुत खराब है, अचानक मलेरिया बुखार चढ़ आता है और परेशान कर देता है।"

संन्यासी पानी पीकर, आभारपूर्वक – 'कल्याण हो' कहते हुए आगे बढ़े, तो सुना, किसी पड़ोसन से कह रही थीं – "संन्यास-व्रत बहुत कठिन है। अहा, इनकी माँ बिचारी कितनी दुखी होगी? अगर मर गयी हो तो ठीक है। बाप को उतना कष्ट नहीं होता – जैसा माँ को होता है। अहा, पता नहीं ये कहाँ के हैं, पर इनकी माँ पर मुझे तरस आ रहा है...।" (संन्यासी की तब युवावस्था थी)

दिल में मानवता पुष्पित हो रही है।

❖ (क्रमशः) ❖

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

७७. प्रश्न – मुझे सतत भय और आशंका की भावना पीड़ित करती रहती है। मृत्यु से उतना डर नहीं लगता, पर अनागत भय मुझे सताते रहते हैं; यदि मैं दुर्घटना का शिकार होकर अपंग हो गई, या चेचक की बीमारी से दृष्टिशक्ति खो बैठी, अथवा मेरा लड़का स्कूल आते-जाते दुर्घटनाग्रस्त हो गया, तो क्या होगा? ऐसी निर्मूल आशंकाओं से मैं बहुत परेशान हूँ। इससे छूटने का कोई सरल उपाय बताएँ।

उत्तर – आपको अपनी आशंकाओं से मुक्त होने की इच्छा हुई है, यह बड़ी अच्छी बात है। यही आपको इन आशंकाओं से ऊपर उठने का बल प्रदान करेगा। यदि आपमें ईश्वर के प्रति समर्पण का भाव आ सके, तो आप इन भयों से बच सकती हैं। मृत्यु से आपको उतना डर नहीं लगता, इससे स्पष्ट होता है कि आपके मन के

किसी कोने में असुरक्षा की भावना पैठी हुई है। तभी तो आपको लगता है, भले ही मौत आ जाय, पर मैं अपंग बनकर किसी की दया के भरोसे न बैठी रहूँ। लड़के के लिए भी इसीलिए आशंका उठती है कि कहीं उसके छिन जाने से आप असुरक्षित न हो जाएँ।

यह असुरक्षा की भावना सुरक्षा के आश्वासन से ही दूर हो सकती है। और ईश्वर को छोड़ भला और कौन हमें अचल-अटल सुरक्षा प्रदान कर सकता है? संसार का कोई भी व्यक्ति हमें सुरक्षा नहीं दे सकता, कोई वस्तु या दवा हमें सुरक्षित नहीं रख सकती। जो स्वयं असुरक्षित है, वह दूसरे की रक्षा कैसे कर सकता है? अतएव ईश्वर के प्रति अपना विश्वास बढ़ाइए, उनके प्रति यह भावना तीव्र कीजिए कि इस संसार में एकमात्र वे ही आपके अपने हैं और सदैव आपके साथ हैं। यह धारणा दृढ़ कीजिए कि वे मंगलमय हैं और सतत आपका मंगल ही करते हैं। अनुकूल परिस्थितियों में जिस प्रकार उनकी कृपा का अनुभव होता है, उसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उन्हीं की कृपा का अनुभव करना चाहिए। विपत्तियों को यदि उन्हीं का भेजा मान लिया जाए, तो विपत्तियों का दंश नष्ट हो जाता है। मन में इस प्रकार की भावना सतत उठानी चाहिए – 'ठीक है, प्रभो ! तुम्हारी इच्छा हो, तो विपत्ति भी दो, पर मुझे अपने से दूर न करो। विपत्ति भी तो तुम्हारी ही दी हुई है। ऊपर से अमंगल दिखनेवाली घटना के पीछे वास्तव में तुम्हारा ही मंगलमय वरदहस्त है। इससे अन्ततः मेरा कल्याण ही होगा, पर आज मुझमें यह सामर्थ्य नहीं कि इस अमंगल में छिपे मंगल को देख सकूँ। तुम्हारी कृपा से बुद्धि इसे समझने में समर्थ हो जाय, ऐसा कर दो।'

यदि उपर्युक्त भावना तीव्र होकर हमारे भीतर दृढ़मूल हो जाय, तो फिर विपरीत परिस्थितियों में भी प्रतिकूलता नहीं दिखती। तब, ज्योंही मन में विचार उठेगा कि 'मैं दुर्घटना का शिकार होकर अपंग हो जाऊँ तो...', त्योंही मन में दूसरा विचार कौंधेगा – 'तुम्हारी इच्छा हो, तो मेरी अपंगता में भी मेरा कल्याण ही होगा।' ज्योंही मन में विचार उठेगा कि 'मैं रोग से आँखें खो बैठूँ तो ...', त्योंही एक प्रति-विचार कौंधेगा – 'तुम्हारी मर्जी हो, तो मेरा अन्धा-पन भी मेरे लिए हितकारी ही होगा।' ज्योंही मन सोचेगा कि 'लड़का कहीं दुर्घटनाग्रस्त हो गया तो ...', त्योंही उसके भीतर एक अन्य विचार-लहरी उठेगी – 'हो जाय तुम्हारी बला से ! तुम जैसा चाहो, करो। लड़का तुमने दिया, लेना चाहो, तो ले लो। जिससे मेरा भला हो वही करो। मुझे नहीं मालूम कि मेरा मंगल किसमें है। मेरा सारा भार तुम पर रहा।'

बस, यही मन की वह वृत्ति है, जो निर्मूल आशंकाओं को जड़ से नष्ट कर देती है। 'जो ईश्वर नवजात शिशु को माँ के गर्भ से बाहर लाते ही उसके स्तनों में दूध की व्यवस्था कर देता है, वह सदैव हमारा संरक्षण कर रहा है,' ऐसा विश्वास ही हमारी असुरक्षा की भावना को समाप्त करता है। वास्तव में, ईश्वर का यह संरक्षण हमें सदैव प्राप्त है, पर हम अपने अज्ञान के कारण, मोह और अविवेक के कारण, अहंकार और दर्प के कारण उनकी कृपा का अनुभव नहीं कर पाते। चुम्बक तो सतत लौह-कणिकाओं को अपनी ओर खींच रहा है, पर कणिकाएँ मिट्टी से सनी होने के कारण इस आकर्षण का अनुभव नहीं कर पातीं। मिट्टी ज्योंही साफ होती है, कणिकाएँ अपने-आप चुम्बक के आकर्षण में बँधकर उसकी ओर खिंचने लगती हैं। बस, यही बात जीव पर भी लागू होती है। हमने अपने-आपको अहंकार, कर्तापन आदि की मिट्टी से सान लिया है, इसीलिए ईश्वर के आकर्षण का, उनकी कृपा और संरक्षण का हम अनुभव नहीं कर पाते। हम क्यों कर्तापन के

बोझ को सिर पर लेकर ढोएँ, जब ईश्वर हमारे लिए सारा बोझ ढोने को तैयार है? तो, ऐसा विश्वास अपने भीतर लाइए। आप देखेंगी, सारा डर समाप्त हो जाएगा।

या फिर, यदि आपमें विचार की प्रधानता है, तो भविष्य की अपरिहार्यता की धारणा मन में दृढ़ कीजिए। अपने-आप से कहिए कि जो अवश्यम्भावी है, उसे कौन टाल सकता है? काल की गति को कौन मेट सकता है? जब जैसी परिस्थिति सामने आएगी, तब वैसा देखेंगे, अभी से डरते रहने से क्या लाभ? इस प्रकार की भावना मन में दृढ़ होने पर अनागत का भय समाप्त हो जाता है।

बस, यही उपाय है। इससे सरल उपाय नहीं है। मनुष्य सरल उपाय के चक्कर में समस्या को सुलझाने के बदले और उलझा लेता है। 'शॉर्ट कट' से जाने के चक्कर में और भी भटक जाता है। अत: सरल उपाय का चक्कर छोड़ दें। यह तो मन के दृष्टिकोण को बदलने की बात है। मन को बदलने की ऐसी कोई दवा नहीं है, जिसे खा लिया तो मन बदल गया ! या ऐसा कोई जादुई डण्डा भी नहीं है कि छुला दिया तो मन रूपान्तरित हो गया ! मन में न जाने कितने जन्मों के संस्कार भरे पड़े हैं। उन सबका शोधन करने के लिए अभ्यास की जरूरत है, जैसा कि ऊपर बताया गया, और ऐसा अभ्यास केवल निर्मूल आशंकाओं या अनागत भयों का ही विनाश नहीं करता, वरन् वह तो संसार-भय को ही पूरी तौर से नष्ट करके जीवन धन्य बना देता है।

७८. प्रश्न – देवी-देवताओं के दर्शन को क्या projection of unconscious complexes (अचेतन ग्रन्थियों का आरोपण) कहा जा सकता है?

उत्तर – देवी-देवताओं के यथार्थ दर्शन अचेतन ग्रन्थियों के आरोपण नहीं हैं। देवी-देवता की अपनी धारणा मैं आपको समझा दूँ। ये शब्द संस्कृत धातु 'दिव्' से व्युत्पन्न हुए हैं, जिसका अर्थ है चमकना या प्रकाश करना। 'देवी' या 'देवता' का तात्पर्य होता है 'प्रकाश देनेवाला'। इन्द्रियों को, यानी इन्द्रियों की शक्तियों को संस्कृत साहित्य में 'देव' का विशेषण दिया जाता है, क्योकि इन्द्रियो से हमें ज्ञान होता है और ज्ञान प्रकाश देता है। अत: देवता का तात्पर्य उस सूक्ष्म शक्ति से है, जिसकी सूक्ष्मता तो विचार की सी है, पर गहराई विचार की गहराई से अधिक होती है। वह सूक्ष्म शक्ति का एक बोध है। उदाहरण के लिए, गुरुत्वाकर्षण को ले लें। यह आकर्षण भौतिक रूप से न्यूटन से पूर्व भी विद्यमान था, पर लोगों को तब ज्ञात नहीं था। न्यूटन ने उसका अनुभव किया, उसे देखा और आज वह जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण सत्य बना हुआ है। तो, जैसे न्यूटन को गुरुत्वाकर्षण की स्थूल शक्ति का बोध हुआ, वैसे ही मन के धरातल पर मनुष्य को सूक्ष्म शक्ति का बोध हुआ करता है। इसी को 'देव-दर्शन' कहते हैं। वेदों में प्रकृति के सूक्ष्म नियम भी 'देव' शब्द से अभिहित हुए हैं। वैज्ञानिक जब अन्तरिक्ष के, इस विश्व-प्रपंच के इन्द्रियातीत सत्यों का बोध के द्वारा अनुभूति करता है, तो ऐसा साक्षात्कार भी 'देव-दर्शन' कहा जा सकता है। आइन्स्टीन के सूक्ष्म चेतना-बोध इसी श्रेणी में आते हैं।

पर सामान्यतया हम जिसे देवी या देवता कहते हैं, उसका बोध भावात्मक अधिक होता है। हिन्दू अध्यात्म ग्रन्थों में शिव, विष्णु, काली, दुर्गा आदि जिन देवी-देवताओं की धारणा है, वे सभी जगत् के किसी-न-किसी सूक्ष्म सत्य के प्रतीक हैं। साधना के द्वारा ये प्रतीक अपना यथार्थ स्वरूप व्यक्त कर देते हैं और वही देव-दर्शन की अवस्था होती है। उदाहरण के लिए, काली काल की शक्ति है, वह दिगम्बरा है, क्योंकि काल का वसन देश यानी आकाश यानी अम्बर ही होता है। काली की समुचित उपासना करने से काल के सूक्ष्म नियम उद्घाटित होते हैं और जीवन में काल का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। श्रीरामकृष्ण देव काली की उपासना से कालान्तर्गत सत्यों के अनुभवी तो बने ही, साथ ही वे कालातीत सत्य के भी द्रष्टा बने।

बहुत-से लोगों को कोई रूप दिखायी देता है। यदि यह रूप किसी बोध का उद्घाटन न करे, तो उसे अचेतन ग्रन्थियों का आरोपण अवश्य कहा जा सकता है। बहुलांश में लोग इसी के शिकार होते हैं – वे तरह तरह के रूपों का दर्शन करते हैं, पर उससे उनके जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन साधित नहीं होता। इनमें छली, कपटी और पाखण्डी अधिक होते हैं। यथार्थ देव या देवी-दर्शन वह है, जिसका प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता है और उसे बदल देता है।

इस सन्दर्भ में 'रीडर्स डाइजेस्ट' के अप्रैल १९७५ के प्रथम लेख 'I died at 10.52' को पढ़ना लाभदायक होगा।

❖ **(क्रमश:)** ❖

शिक्षकों का कर्तव्य (१)

स्वामी रंगनाथानन्द

(रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने दिल्ली, फरीदाबाद तथा नोएडा में स्थित एपीजे स्कूलों के शिक्षकों को २ अप्रैल, १९८६ को सम्बोधित करते हुए अंग्रेजी भाषा में जो व्याख्यान दिया था, यह लेखमाला उसी पर आधारित है। मूल अंग्रेजी में भी इस व्याख्यान के अनेक संस्करण निकलकर काफी लोकप्रिय हुए हैं। विषय की नवीनता तथा विशेष उपादेयता देखते हुए हिन्दी में इसका अनुवाद किया है 'विवेक-ज्योति' सम्पादकीय विभाग के ही स्वामी प्रपत्यानन्द जी ने। – सं.)

१. प्रस्तावना

मैं राजधानी (दिल्ली) के तीन विख्यात विद्यालयों के शिक्षकों से मिलकर बड़े आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ। इस कार्यक्रम में मेरा समय काफी सीमित है, तथापि अपने शिक्षकों तथा छात्रों से मिलने के किसी भी सुअवसर का मैं सदा स्वागत करता हूँ। मैं अपना समय उस विषय की चर्चा में लगाऊँगा, जिसे आपने अनेकों बार पूछा तथा सुना है और वह है – **'नवभारत के निर्माण में शिक्षकों की भूमिका तथा कर्तव्य।'** जब कभी मैं ऐसे विषयों पर अपने विचार व्यक्त करता हूँ, तो सर्वप्रथम मैं विषय को ठीक ठीक समझने में श्रोताओं की सहायता करता हूँ। आपमें से प्रत्येक को अपने जीवन तथा कर्म के विषय में पूर्णत: सचेत होना चाहिए। हमारी संस्कृति लगभग ५००० वर्ष पुरानी, अत्यन्त समृद्ध और बहुमुखी है; और ज्ञान के अर्जन तथा वितरण की प्रक्रिया के रूप में शिक्षा ही इस संस्कृति का मेरुदण्ड रही है। इसने विज्ञानों, कलाओं, दर्शन, धर्म और सामाजिक-राजनैतिक चिन्तन के क्षेत्रों को महत्त्वपूर्ण योगदान के द्वारा समृद्ध किया है। मगर विगत कुछ शताब्दियों से हम लोग संकीर्ण हो गए, हमने अपनी स्वाधीनता खो दी और निरन्तर विदेशियों के अधीन रहे।

२. स्वाधीनता - और उसके बाद ?

अब हमने अपनी स्वाधीनता अर्जित करने के बाद एक स्वतंत्र लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना कर ली है। अब भारत इस प्रश्न के सम्मुखीन है – स्वाधीनता तो मिल गयी, अब इसके बाद? अपने संविधान के द्वारा हम लोगों ने अपनी जनता से बड़े बड़े वायदे किये थे, घोषणा की थी कि – स्वाधीनता के द्वारा हम लोग अपनी समस्याओं का समाधान करेंगे और अपने भावों, आदर्शों तथा जरूरतों के अनुसार भारत के भाग्य का पुनर्निर्माण करेंगे।

इस स्वाधीनता के बाद उठनेवाली पहली बड़ी समस्या है – देश की कोई ७० करोड़ जनसंख्या में से करीब आधे लोगों की घोर निर्धनता तथा पिछड़ापन। दूसरी समस्या है – इनमें से करोड़ों लोगों की निरक्षरता। तीसरी समस्या है – हममें भेदभाव पैदा करनेवाली जाति व सम्प्रदाय पर आधारित निष्ठाएँ, जो हमारे सद्योजात लोकतंत्र को दुर्बल बना रही हैं।

इन सभी समस्याओं का समाधान हमें स्वयं ही करना है। इन समस्याओं के समाधान में कोई भी विदेशी शक्ति हमारे काम नही आयेगी और न उनसे ऐसी अपेक्षा रखना उचित ही है। इस प्रकार स्वाधीनता के बाद तत्काल ही यह राष्ट्रीय जिम्मेदारी हमारे कन्धों पर आयी है और स्वाधीन भारत के प्रत्येक नागरिक को अपने इस राष्ट्रीय कर्तव्य का बोध होना चाहिए। यह परिस्थिति सम्पूर्ण भारत के हमारे शिक्षकों की भूमिका और कर्तव्य का आह्वान करती है और हमारे द्वारा चुने गये आज के विषय को ज्वलन्त सन्दर्भ प्रदान करती है।

मैंने विशेष रूप से **नागरिक शब्द** का प्रयोग किया है। यह एक महान् शब्द है। जैसे ही हम लोग स्वाधीन हुए, वैसे ही हम भारत के नागरिक हो गए। उसके पहले तक हम लोग ब्रिटिश साम्राज्य की प्रजा कहलाते थे। 'विदेशी सरकार की प्रजा' और 'स्वाधीन राष्ट्र के नागरिक' – इन दोनों में व्यापक भेद है। स्वाधीन नागरिक होने पर हम श्रेष्ठतर व्यक्तित्व और उच्चतर गौरव का विकास करते हैं। हम लोग स्वाधीन तो हो गए, परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि हम इसके तात्पर्य को समझने और इसके यथार्थ मर्म के अनुसार चलने में असफल रहे। इसीलिए हमारा देश आशानुरूप प्रगति नहीं कर सका। यह देश प्रगति करता, बशर्ते हमारे देशवासी 'प्रजा' से 'नागरिक' के रूप में होनेवाले इस बदलाव का तात्पर्य समझ पाते। यह बात हमारे नेताओं, प्रशासकों, शिक्षकों, अन्य पेशेवालों और हमारी पिछड़ी जातियों तथा जनजातियों – जनता के सभी वर्गों पर लागू होती है। अन्य सभी लोगों की अपेक्षा हमारे शिक्षकों को इस – 'एक महान् देश के नागरिक होने के सौभाग्य तथा कर्तव्य' के वास्तविक तात्पर्य को समझने और हमारे बच्चों को इसकी शिक्षा देने की विशेष आवश्यकता है।

नागरिकता से क्या तात्पर्य है? इसका अर्थ है – एक स्वाधीन समाज में, एक स्वाधीन तथा जिम्मेदार व्यक्ति होने की अवस्था। हमें इसके दो घटकों पर ध्यान देना होगा – 'स्वाधीनता और उत्तरदायित्व'। हम स्वयं ही भारत की प्रगति के लिए उत्तरदायी हैं। हम न केवल भारत के निवासी हैं, अपितु हम भारत के और भारत के लिए भी हैं। आधुनिक प्रजातंत्र में नागरिकता की यही अवधारणा है। वर्तमान भारत की समस्याओं पर दृष्टिपात करने पर हम पाते हैं कि बहुत-से

लोग केवल अपनी व्यक्तिगत स्वाधीनता व इससे जुड़े अधिकारों पर ही अधिकाधिक बल देते हैं, जो कि नागरिकता का प्रथम उपादान है। पर हम लोगों ने द्वितीय उपादान – सामाजिक दायित्व और इससे उद्भूत कर्तव्यों के महत्त्व का न तो बोध किया है और न उस पर बल ही दिया है।

यदि हमें अपने देश के प्रति अपने कर्तव्यों का बोध होता, तो हम लोग वर्तमान की अपेक्षा अधिक कुशलता एवं समर्पण-भाव से कठोरतर परिश्रम कर रहे होते। महान् हुए प्रत्येक राष्ट्र ने, अपनी जनता में अपने देश के विकास हेतु जाग्रत होनेवाले उत्तरदायित्व-बोध के द्वारा ही महानता की उपलब्धि की है। परन्तु भारत में हम लोग इस पाठ को नहीं सीख सके हैं और कठोर परिश्रम के प्रति निष्ठा उत्पन्न नहीं कर सके हैं। सरकारी दफ्तरों, उसके विभिन्न विभागों में जाइए, वहाँ के अधिकांश कर्मियों में आपको इस 'राष्ट्र के प्रति कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व और कठोर श्रम का भाव' नहीं मिलेगा, और इसी भाव से हमारी शिक्षा-व्यवस्था भी आक्रान्त है। यही कारण है कि हमारे संविधान में घोषित सबके लिए प्राथमिक शिक्षा की उपलब्धि का लक्ष्य अब तक पूरा नहीं हो सका है।

हमारे शिक्षकों और देश के द्वारा, विशेषकर ग्रामीण अंचलों में, शिक्षा की अत्यधिक उपेक्षा हुई है। आज हम पहली बार उस उत्तरदायित्व के दबाव का अनुभव करने लगे हैं। हम शिक्षा-प्रणाली को, अँग्रेजी शासन-काल से ही चले आ रहे उन प्रदूषक औपनिवेशिक तत्त्वों से मुक्त करके, इसे राष्ट्रवादी तथा सार्वभौमिक बनाने के लिए, इसके लक्ष्य और पद्धति में परिवर्तन लाने का प्रयास कर रहे हैं। यह एक महान् कार्य है, जिसके लिए आजकल प्रयास चल रहा है। हम सरकार से अपेक्षा करते हैं कि वह हमारे संसद के वर्तमान सत्र में देश के लिए एक ऐसी नयी शिक्षानीति व कार्यक्रम प्रस्तुत करेगी, जो राष्ट्रीयता तथा आदर्शवाद पर आधारित होगा। मेरा पूरा विश्वास है कि वह नयी व्यवस्था हमारी शिक्षा को पहले से पूर्णत: भिन्न बना देगी। यह निर्दोष नहीं भी हो सकती है, परन्तु यह आगे की दिशा में एक कदम होगा और बाद में राष्ट्र इसमें क्रमश: उत्तरोत्तर सुधार ला सकेगा।

इस सन्दर्भ में हमारे लोकतंत्र में आपके क्या कर्तव्य हैं, आपकी क्या भूमिका है और आपकी क्या जिम्मेदारी है? शिक्षा लोकतंत्र में सर्वोच्च भूमिका निभाती है। शिक्षकों के रूप में, आप लोगों को हमारी युवा पीढ़ी के मनों को प्रशिक्षण देकर इस प्रकार ढालना होगा कि वे हमारे लोकतांत्रिक राष्ट्र के सुयोग्य नागरिक बन सकें। आप लोग उन्हें जो कुछ प्रशिक्षण देंगे, उससे राष्ट्र में परिवर्तन आयेगा। इस परिवर्तन से देश को और भी उत्तम तथा सशक्त बनना चाहिए। उसका अर्थ यह है कि शिक्षकों के कन्धों पर एक असाधारण उत्तरदायित्व है। आम तौर पर एक बालक ३ वर्ष की आयु से लेकर लगभग १८ या १९ वर्ष की आयु तक करीब १५-१६ वर्ष विद्यालय में बिताता है। वैसे आज उनमें से अनेक अपनी निम्न प्राथमिक स्तर की शिक्षा पूरी किए बिना ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। मुझे आशा है कि शिक्षा की नयी कार्य-योजना में हमारी इस बहुमूल्य मानव-सम्पदा का विनाश रोकने के लिए कदम उठाये जायेंगे। बालक या बालिका विद्यालय में प्रतिक्षण ज्ञान तथा विचार ग्रहण करते रहते हैं। विश्वविद्यालय के पूर्व के स्तर की इस शिक्षा का विशेष महत्त्व है; क्योंकि इसी आयु में मन सर्वाधिक ग्रहणशील होता है और इसलिए भी कि बहुत-से छात्र १२वीं कक्षा तक पढ़ने के बाद औपचारिक शिक्षा को छोड़ देते हैं। इनमें से कुछ प्रतिशत ही विश्वविद्यालयों में जाते हैं। इसलिए बहुसंख्यक छात्र अपने जीवन के सर्वाधिक रचनात्मक वर्षों के दौरान पूर्व-प्राथमिक, प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों की देखरेख तथा प्रभावक्षेत्र में रहते हैं। अत: इस स्तर के हमारे शिक्षकों को एक प्रबल उत्तरदायित्व और महान् विशेषाधिकार प्राप्त है। उस दायित्व के सम्यक् निर्वहण हेतु उन्हें स्वयं राष्ट्रीयता के भावों से अनुप्राणित होना होगा, तभी तो वे अपने छात्रों को राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख कर सकेंगे।

३. दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता

यह सब होना तभी सम्भव है, जब शिक्षकों के दृष्टिकोण में विशिष्ट परिवर्तन आ जाय। मैं जहाँ कहीं भी शिक्षकों और प्रशासकों को सम्बोधित करने जाता हूँ, वहीं इस बात पर बल देता हूँ। हमारे दृष्टिकोणों में परिवर्तन लाने की बड़ी आवश्यकता है। हमारी जनता को कार्य-कुशलता के पीछे निहित प्रेरणाओं के महान् विषय पर चिन्तन तथा चर्चा करनी चाहिए। "कब मैं अपना श्रेष्ठ कार्य कर सकता या करता हूँ?" – इस प्रश्न का अब तक यही उत्तर दिया जाता रहा है – "जब मुझे अधिक धन दिया जाता है।" लेकिन पूरे संसार में लोगों ने अनुभव किया है कि श्रेष्ठ कर्म के लिए धन ही एकमात्र प्रेरणा नहीं हो सकती। धन भी एक प्रेरणा है, लेकिन हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन ही सर्वश्रेष्ठ प्रेरणा है – जो परिवर्तन हममें भारत का एक नागरिक होने का स्वाभिमान तथा धन्यता का भाव जगा दे, राष्ट्र की सेवा में एक विशिष्ट कार्य करने के गर्व का बोध करा दे। केवल धन की अपेक्षा यह एक उच्चतर तथा तीव्रतर प्रेरणा है। अन्य उच्चतर प्रेरणाओं से संयुक्त न हो, तो केवल धन की प्रेरणा लोगों को mercenaries (भाड़े के आदमियों) में परिणत कर देती है। ऐसा व्यक्ति केवल धन के लिए काम करता है। जब यह देश शताब्दियों तक विदेशी शासन के अधीन था, तब देखने में आया कि हमारे बहुत-से बुद्धिजीवी तथा सुयोग्य लोग विदेशी शासकों के पास जाकर बोले – यदि आप लोग हमें अच्छा वेतन दें, तो हम आप के लिए कार्य

करेंगे। वे लोग अपनी विद्या-बुद्धि सर्वाधिक बोली लगानेवालों को बेच दिया करते थे। शताब्दियों तक ऐसे लोग भाड़े के टट्टुओं के रूप में कार्य करते रहे। परन्तु खेद की बात तो यह है कि आज हमारे स्वाधीन भारत में भी ऐसे अनेक लोग मिल जाएँगे, जो इन भाड़े के टट्टुओं से भी गये-बीते हैं। भाड़े का आदमी प्राप्त होनेवाले धन के लिए बड़ा कठोर परिश्रम करता है, परन्तु हमारे देश के बहुत-से लोग प्राप्त होनेवाले पारिश्रमिक तथा वेतनों के बदले एक दिन का काम भी ईमानदारी से नहीं करते। इसमें परिवर्तन लाना आवश्यक है।

एक भाड़े के आदमी की निष्ठा किसी भी आदर्श, सिद्धान्त या राष्ट्र के प्रति नहीं, अपितु केवल स्वयं के प्रति ही होती है। मुझे नहीं लगता कि हमारे स्वाधीन लोकतांत्रिक भारत में आप में से कोई भी जान-बूझकर ऐसा भाड़े का आदमी होना पसन्द करेगा। आज यदि कोई वैसा या उससे भी निकृष्ट आचरण करता है, तो मात्र विचारशीलता की कमी के कारण ही करता है। यह कोई ऐसा स्तर नहीं है, जिसे कोई विचारशील व्यक्ति प्राप्त करना चाहेगा। एक स्वाधीन लोकतंत्र के नागरिक होने की अपेक्षा वह एक बड़ा निकृष्ट स्तर है। "यह हमारा देश है, हम इसके हैं, हम लोग ही इसके विकास तथा कल्याण के लिए उत्तरदायी हैं और हम लोग अपने कार्य को अपने सह-नागरिकों की निष्ठापूर्ण सेवा में परिणत करने जा रहे हैं" – यही नागरिकता का वह गौरवशाली दृष्टिकोण है, जो उन भाड़े को लोगों तथा उनसे भी गये-बीते लोगों के दृष्टिकोण के बिल्कुल विपरीत है।

यह दृष्टिकोणीय परिवर्तन आने पर व्यक्ति में एक प्रबल शक्ति प्रगट हो उठती है। वह कर्मठता तथा समर्पण के भाव से परिपूर्ण हो उठता है। यहीं पर धन से बहुत उच्च एक सशक्त तथा सहज प्रेरणा व्यक्त होती है। पिछले सप्ताह मैं हैदराबाद में आन्ध्र-प्रदेश सरकार के सचिवालय के कर्मचारियों की एक सभा को सम्बोधित कर रहा था, जिसमें राज्य के मुख्य मन्त्री और प्रमुख सचिव भी उपस्थित थे। वहाँ भी मैंने यही बात कही। यदि आप मात्र एक कर्मचारी के रूप में कार्य करते हैं, तो आपके कार्य एक तरह से होंगे, लेकिन यदि आप अपना दृष्टिकोण बदलकर अपने में नागरिकता का बोध विकसित करते हैं, तो स्वयं आपमें और आपके कार्य में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आएगा। जापानी अपने राष्ट्र के प्रति बड़ी निष्ठा रखते हैं। उन्हें अपने राष्ट्र पर बहुत गर्व है। उन्हें अपने देश, उसके इतिहास तथा संस्कृति पर गर्व है। अपने देश को सुधारने के लिए वे कुछ बी करने को तैयार रहते हैं। यदि वे लोग शिक्षा के लिए दूसरे देशों में जाते हैं, तो पुनः लौटकर अपने स्वदेश के कल्याण हेतु अपने ज्ञान तथा प्रतिभा का उपयोग करते हैं।

इस दृष्टि से हम लोगों में एक बहुत बड़ा राष्ट्रीय दोष है। विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा हम लोगों में देशभक्ति का भाव न्यूनतम है। हम लोग केवल अपने समुदाय, अपनी जाति, अपने परिवार और मुख्यतः स्वयं के प्रति ही आसक्ति रखते हैं। परन्तु आज हमारी जनता में एक नई तरंग, एक नई राष्ट्रीय चेतना का विकास हो रहा है, यह हमारी जनता में हो रहे आध्यात्मिक विकास का एक स्वस्थ संकेत है। यह इस स्वस्थ राजनैतिक चेतना के रूप में भी अभिव्यक्त हो रही है कि हम एक स्वाधीन लोकतांत्रिक राष्ट्र के नागरिक हैं, जिसमें विभिन्न प्रकार के लोग, विभिन्न धर्म, विभिन्न भाषाएँ तथा विभिन्न सांस्कृतिक स्तर विद्यमान हैं और हम भी उसके एक अभिन्न अंग हैं। इसी सन्दर्भ में राष्ट्र आपको शिक्षक के रूप में कार्य करने का आह्वान करता है। आप स्वयं ही अपने आप से यह प्रश्न पूछिए – "यदि ऐसी परिस्थिति में मुझे एक शिक्षक के रूप में कार्य करने को कहा जाय, तो मेरी क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए?" जब एक शिक्षक के रूप में मेरी किसी सुदूर ग्राम में नियुक्ति होती है, तब यदि मैं अपने को सरकार या किसी अन्य स्वयंसेवी संस्था का कर्मचारी मात्र समझता हूँ, तो मेरा स्तर बहुत निम्न हो जाता है। एक कर्मचारी के रूप में मुझे अपना वेतन मिलता रहेगा और मेरा स्तर एक वेतनभोगी कर्मचारी का बना रहेगा। पर यदि मैं स्वाधीन राष्ट्र की नागरिक-चेतना से युक्त होकर वहाँ जाऊँ और अपने विद्यालय में आगत छात्रों को शिक्षित करने के राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को अपने कन्धों पर स्वीकार करूँ, तो मेरी स्थिति अपने-आप उन्नत हो जाती है। मैं लाखों मौन राष्ट्र-निर्माताओं में से एक हो जाता हूँ।

हमें बड़े पैमाने पर इसी दृष्टिकोणीय परिवर्तन को अपनाना है। कोई भी कार्य बड़ा या छोटा नहीं है, हमारा दृष्टिकोण ही इसे वैसा बनाता है। आप एक लिपिक का कार्य एक बाबू की मनोवृत्ति के साथ कर सकते हैं; तब वह कार्य तथा वह कर्मी बहुत निम्न स्तर के हो जाते हैं। लेकिन यदि आप लिपिक का कार्य एक नागरिक के मनोभाव तथा दृष्टिकोण से करते हैं, तब वह कर्म और वह कर्मी महान् हो जाते हैं। इसी प्रकार भारत के किसी दूर-दराज के अंचल में कार्यरत यदि कोई शिक्षक या शिक्षिका स्वयं को एक स्वल्प वेतनभोगी कर्मचारी मानता है, तो वह स्वयं को एक अज्ञात तथा अप्रभावी व्यक्ति में परिणत कर लेता है। परन्तु इस नागरिक के दृष्टिकोण का विकास करके वह स्वयं को राष्ट्रनिर्माता के उच्च स्तर पर उन्नीत कर लेता है और इस प्रकार अपने कार्य को एक ऐसा महत्त्व तथा तात्पर्य प्रदान करता है, जैसा कि वेतनभोगी-कर्मचारी का भाव रखनेवाला कभी नहीं कर सकता।

आप लोग अपने कर्म तथा स्वयं को छोटा बनाने के लिए स्वाधीन हैं; और आप इन दोनों को बड़ा बनाने के लिए भी

स्वाधीन हैं। यह सब आपके दृष्टिकोण – आपके कर्म-दर्शन पर निर्भर करता है। मैं प्राय: ही कहता हूँ – एक बड़ा व्यक्ति एक छोटा-सा कार्य करता है और उस कार्य को बड़ा बना देता है; तथा एक छोटा व्यक्ति एक बड़ा कार्य करता है और उस बड़े कार्य को भी छोटा बना देता है। यह सब स्वयं हम पर निर्भर करता है। हम लोगों को अपने आप में एक स्वाभाविक उच्चता प्राप्त करनी है और तब उस उच्चता को अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मों में सम्प्रेषित करना है। इसी को चरित्र कहते हैं। वेदान्त इसी को विश्व की सर्वश्रेष्ठ ऊर्जा मानता है।

४. शिक्षकों को केवल शिक्षा ही नहीं देनी है, छात्रों में प्रेरणा का भी संचार करना है

शिक्षक को स्वयं में यह ऊर्जा उत्पन्न करनी है और अपने अधीन शिक्षा प्राप्त कर रहे छात्रों तथा छात्राओं को पढ़ाने के अपने कार्य के साथ इसका समायोजन करना है। छात्रों को केवल पढ़ाना ही नहीं, अपितु उन्हें प्रेरणा देना भी शिक्षक या शिक्षिका का कार्य है। उसे अपने छात्रों के जीवन तथा चरित्र को प्रभावित करना है और उन्हें ऐसे भावों तथा आदर्शो से लैश कर देना है, जो उनके लिए एक सुयोग्य नागरिक के रूप में राष्ट्रीय जीवनधारा में प्रवेश करते समय उपयोगी सिद्ध हों। जिन वर्षों में ये छात्र, स्कूल में आपके प्रभाव-क्षेत्र में होते हैं, उन्हीं के दौरान आपको यह सम्पन्न करना है।

हमारे लोकतंत्र में नर-नारी की समानता को स्वीकार करने की आवश्यकता, जाति के गौरव तथा विशेषाधिकारों, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिक भेदभाव तथा विद्वेषों को त्यागने और हमारे संविधान में घोषित 'वैयक्तिक सम्मान तथा राष्ट्रीय एकता' को सुदृढ़ बनाने की शिक्षा आप लोगों को उन्हें देनी है।

हमारी विविधताओं के भीतर से एक संगठित राष्ट्र विकसित करने में योगदान करने को हमारे छात्र शिक्षित होने चाहिए। हमारे संविधान में निहित उदात्त मानवीय भावों से उन्हें परिचित कराया जाय और इन भावों को सामाजिक व राजनैतिक यथार्थ में परिणत करने की ललक भी उनमें पैदा की जाय।

आपके छात्र उस आयुवर्ग के हैं, जिसमें उनके चरित्र को बनाया और उनमें राष्ट्रीय भावना का विकास किया जा सकता है। आप लोगों को हमारी नयी शिक्षा-नीति तथा कार्य-योजना के यंत्र बनकर, अपने छात्रों में एक उच्च चारित्रिक ऊर्जा, एक पवित्र राष्ट्रीय चेतना, एक सुदृढ़ लोकतांत्रिक निष्ठा और एक समर्पित सामाजिक उत्तरदायित्व के भाव का विकास करना है। इसे पाठ्यक्रम के अन्य विषयों की शिक्षा के क्रम में किया जाना चाहिए। इसी में शिक्षक का राष्ट्रीय उत्तरदायित्व अभिव्यक्त होता है। युवा पीढ़ी के मन को गढ़ना ही शिक्षक की भूमिका है। गढ़ने का यह कार्य इन सकारात्मक दिशाओं में हो – वैज्ञानिक और मानवतावादी दृष्टिकोण व मनोभाव का विकास, आत्म-संयम, दूसरों के प्रति संवेदना, पर्यावरण-सम्बन्धी चेतना एवं चिन्ता और इस बात में दृढ़ विश्वास पैदा करना कि लोकतंत्र सहिष्णुता पर निर्भर है और संघर्ष की जगह संवाद के प्रति सुदृढ़ निष्ठा उत्पन्न करना। अपने प्रजातंत्र को सशक्त बनाने के लिए शिक्षकों को. विभिन्न मतों व दृष्टिकोणों के प्रति सहिष्णुता के हमारे प्राचीन सांस्कृतिक भाव को अपने छात्रो में प्रवेश कराना होगा और साथ ही उन्हें आधुनिक विद्या से भी परिचित कराना होगा। यह भाव बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक वॉल्टेयर की इस उक्ति में – "मैं आपके कथन से सहमत नहीं हूँ, परन्तु मैं अपने प्राण देकर भी आपके कहने के अधिकार की रक्षा करूँगा।"

अगली पीढ़ी का भारत जैसा भी-होगा, वह इस बात पर निर्भर करेगा कि आज आप अपनी कक्षा में छात्रों को क्या पढ़ाते हैं। आज विद्यालयों में पढ़ रहे बच्चे अगली शताब्दी के प्रारम्भ में राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को कन्धे पर लेना और कार्य करना शुरू कर देंगे। आपको उन्हें इस राष्ट्रनिष्ठा तथा उत्तर-दायित्व-बोध की शिक्षा प्रदान करनी है। उनके मन में पहले से ही जो कुछ भी नकारात्मक तथा दुर्बल बनानेवाली भावनाएँ हैं, उन्हें निकालने में उनकी सहायता करनी है। हमारा पहले का इतिहास हमें कुछ अच्छा और कुछ बुरा भी प्रदान करता है। उसमें जो कुछ बुरा है, उसे हम लोगों को निकालना है और जो कुछ अच्छा है, उसे सुदृढ़ बनाना है। छात्रों को अपनी राष्ट्रीय विरासत के दोनों पहलुओं का विश्लेषण करना सीखना होगा। प्रत्येक सांस्कृतिक विरासत के ये दो पहलू होते हैं। शिक्षा ही, इन दोनों का विश्लेषण करने की क्षमता विकसित करती है और बुरे, अप्रासंगिक तथा दुर्बल बनानेवाले तत्त्वों का परित्याग करने के लिए साहस प्रदान करती है। शिक्षा-काल के दौरान ही हमारे युवकों को इन सकारात्मक तत्त्वों की खोज तथा संरक्षण में सहायता की जानी चाहिए, ताकि वे इन्हें अपनाकर तथा अपने योगदान से संवर्धित करके अगली पीढ़ी को सौंप सकें।

❖ (क्रमश:) ❖

काली-उपासक : रामप्रसाद सेन

स्वामी विदेहात्मानन्द

आज कोलकाता विश्व के विशालतम नगरों में से एक है। पर कोई २५० वर्ष पूर्व वह नगर काफी छोटा था और अभी बसना शुरू ही हुआ था। एक युवक अपने गाँव से चलकर लगभग तीस मील की दूरी पैदल तय कर नौकरी की तलाश में कलकत्ते आ पहुँचा। कई दिनों तक नगर की गलियों की खाक छानने के बाद कहीं उसे एक नौकरी मिली। गोरूहाटा में दुर्गाचरण मित्र ने उन्हें तीस रुपये महीने पर मुंशी रख लिया। उन दिनों तीस रुपए का भी काफी मूल्य था। उक्त युवक के मन में आया कि हो-न-हो माँ काली ने ही कृपा करके यह नौकरी दी है और इसके साथ ही उसका हृदय जगदम्बा के प्रति कृतज्ञता से पूर्ण हो गया। वह माँ के चिन्तन में विभोर हो उठा, उसका रोम रोम माँ के प्रति आभार प्रकट करने लगा।

नौकरी लगने के बाद वह हिसाब किताब लिखने की बही लेकर बैठा। परन्तु उसका कृतज्ञ मन तो निरन्तर जगदम्बा की ही स्तुति में मग्न था। फलस्वरूप मन-ही-मन एक भजन की रचना हो गयी। इसे सुरक्षित रखने को उन्होंने लिख रखना चाहा। अब कागज आदि ढूँढ़ने कौन जाता है, उन्होंने बही के अन्दर ही उस भजन को लिपिबद्ध कर डाला। सम्भव है इस भजन के कुछ अंश की रचना उन्होंने पहले ही कर ली हो। उक्त बंगला भजन का हिन्दी अनुवाद निम्न है –

माँ ! मुझे नौकरी दे,
हे शङ्करी ! मैं नमकहराम नहीं हूँ
तेरे चरण रूपी रत्न-भण्डार को सभी लूट रहे हैं
और यह मुझसे सहन नहीं होता।
भण्डार की रक्षा का भार जिनके हाथ में है
वे भी त्रिपुरारी भी तो भोले-भाले हैं
जानते हुए भी कि शिव आशुतोष हैं
और स्वभाव से ही दानशील हैं,
तूने अपने भण्डार का जिम्मा उन्हें जागीर में दे रखा है
और फिर वेतन भी कितना अधिक है !
परन्तु मैं तो तेरा बिना पैसे का गुलाम हूँ
माँ, सिर्फ तेरी चरणधूलि का ही अभिलाषी हूँ।

बही के हर पृष्ठ में हिसाब लिखते लिखते वे कहीं 'दुर्गा' नाम, कहीं 'काली' नाम, तो कहीं 'तारा' नाम लिख जाते। बीच बीच में किसी भजन की रचना कर उसी खाते में लिख डालते कि कहीं वह विस्मृत न हो जाय। कोई भी जानता है कि यह उचित नहीं था, पर वे माँ के चिन्तन में इतने विभोर रहते कि उन्हें सुध ही न होती कि मैं कोई भूल कर रहा हूँ। उनके लिए तो सब कुछ मातृमय ही था। सहकर्मियों ने उनका क्रिया-कलाप देखा, तो मालिक के पास शिकायतें ले जाने में देरी न की, पर मालिक ने विशेष ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार कोई एक साल बीत गया। और बही-खाते हिसाब-किताब के साथ-ही-साथ जगदम्बा के नाम व भजनों से भरते रहे।

कर्मचारियों के बार बार नालिश करने पर धीरे धीरे मालिक के भी कान पर जूँ रेंगी। एक दिन क्रोधित हो उन्होंने तत्काल रामप्रसाद को बुला लाने का आदेश दिया। कर्मचारियों ने भी आग में घी डालने के निमित्त उनके लिए बही-खाते लाकर दिखा दिये। वे लोग मन-ही-मन सोच रहे थे – "आज बच्चू को आटे-दाल का भाव मालूम हो जाएगा।"

पर विधाता को कुछ और ही मंजूर था। खाता उलटने लगे। पहले पृष्ठ पर ही दृष्टिगोचर हुआ उन्हें वह भजन –

माँ मुझे नौकरी दो,
हे शङ्करी, मैं नमकहराम नहीं हूँ। ...

वे आद्योपान्त भजन को पढ़ गए और एक ही बार नहीं वरन् कई बार –

मैं तो तेरा बिना पैसे का गुलाम हूँ
माँ, सिर्फ तेरी चरणधूलि का अधिकारी हूँ। ...

पढ़ते पढ़ते वे भी तन्मय हो उठे और उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे। स्नेहभरी दृष्टि से रामप्रसाद की ओर देखते हुए वे बोले, "भाई, संसार के तुच्छ काम करने को तुम्हारा जन्म नहीं हुआ। तुम्हारे द्वारा माँगी गई नौकरी केवल जगदम्बा ही दे सकती हैं। समय होने पर पाओगे। घर जाकर माँ का नाम-गुण-गान साधनादि कर उसके लिए तैयारी करो और मेरा बही-खाता तो तुम्हारी लेखनी से पवित्र ही हुआ है। मैं तुम्हारे खर्च के लिए ३० रुपये महीने भेजता रहूँगा।" युवक रामप्रसाद साधना का संकल्प लिए घर लौटे।

बाल्य जीवन और साधनाएँ

उनका जन्म बंगाल के चौबीस परगना जिले में स्थित कुमारहट्ट या हालीशहर में हुआ था। गंगा के किनारे बसा यह प्राचीन ग्राम इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि यहाँ महाप्रभु चैतन्यदेव के मंत्रगुरु श्री ईश्वरपुरी जी ने निवास किया था और चैतन्यदेव ने भी गुरु-दर्शनार्थ यहाँ पधारकर इस ग्राम को अपने पादस्पर्श से धन्य किया था। उन्होंने वहाँ की धूलि उठाकर अपने सिर पर धारण भी किया था। इसी पुनीत तथा सुप्रसिद्ध गंगातीरस्थ ग्राम में काली के अनन्य उपासक-भक्त रामप्रसाद सेन का जन्म हुआ था। तंत्रोक्त धर्म ही उनका कुल-धर्म था। उनका वैद्य-वंश में जन्म हुआ था और पिता श्री रामशरण सेन भी एक बड़े आयुर्वेदज्ञ थे। अत: बालक की प्रस्फुटित होती प्रतिभा को देखकर उन्होंने उसे ग्राम की संस्कृत पाठशाला में भरती

करा दिया। आयुर्वेद पढ़ने में उनकी विशेष रुचि न थी, पर उन्होंने संस्कृत भाषा पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया। मुस्लिम शासन के दिन थे, अतः पिता की अनुमति से उन्होंने हिन्दी तथा फारसी भाषाओं का भी अध्ययन किया। २२ वर्ष की आयु में पिता ने सर्वाणी नाम की एक कन्या से उनका विवाह तय किया। विवाह सम्पन्न होने के बाद कुल-परम्परा के अनुसार नव-दम्पति ने कुलगुरु से मंत्रदीक्षा ली। दीक्षा के बाद कुलगुरु ज्यादा दिन जीवित नहीं रहे।

बचपन से ही रामप्रसाद के मन में संसार व इसके धन-मान के प्रति कोई रुचि न थी। विवाह व दीक्षा के बाद उनका मन सांसारिक विषयों से उठकर क्रमशः साधना में डूबने लगा। इसी बीच प्रसिद्ध तंत्रसाधक पण्डित आगम-वागीश जी का उस ग्राम में आगमन हुआ। ग्राम के बहुतेरे लोग उनके उपदेश सुनने गए। रामप्रसाद एकान्त में उनसे मिले और बातें कीं। रामप्रसाद को सर्वदा पूजा-पाठ, जप-ध्यान, साधना में मग्न देखकर पिता को चिन्ता हुई कि उनके न रहने पर उसकी गृहस्थी कैसे चलेगी। फिर ऐसा ही हुआ भी। पुत्र को शोक-सागर में निमग्न कर पिता स्वर्गवासी हुए। परिवार का भार अब सहसा उन्हीं के कन्धों पर आ पड़ा। घर में माँ, पत्नी तथा छोटी बहन थी, और रामप्रसाद को धनोपार्जन का कोई उपाय पता न था। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें!

जगदम्बा से – 'माँ मुझे नौकरी दो' की प्रार्थना करते हुए उन्होंने कलकत्ते की ओर प्रस्थान किया। और आगे की घटना हम पहले ही बयान कर चुके हैं।

पुनः जन्मभूमि की ओर ....

नौकरी से निवृत्त हो रामप्रसाद वापस कुमारहट्ट ग्राम को लौट आए और कठोर साधना में डूब गए। मित्र महाशय के सौजन्य से उन्हें प्रतिमाह ३० रुपए मिलते रहे, जो उनके परिवार की साधारण जरूरतों को पूरा करने के लिए पर्याप्त थे। जगदम्बा के प्रति उनकी निष्ठा व निर्भरता क्रमशः बढ़ती गई। उन्हें लगा कि माँ ने उन्हें नौकरी दी है और काम सिर्फ यही दिया कि वे दिन-रात उन्हीं का नाम जपें, उन्हीं को पुकारें, उन्हीं का ध्यान करें और नित नए भजन रचकर उन्हें सुनाएँ। जगदम्बा ने कृपा करके उनकी साधन-पथ की बाधाएँ दूर कर दी थीं। अब उन्हें अपने परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता न रही। प्रातःकाल गंगा-स्नान करके वे गंगा-गर्भ में ही खड़े होकर मन-प्राण से माँ-काली का नाम-गुणगान किया करते। उनके उच्च स्वर से आकृष्ट होकर अनेक यात्री तथा ग्रामवासी निकट आकर उनके भजन सुनते। परन्तु रामप्रसाद को होश नहीं रहता कि सामने कौन खड़ा है और कौन नहीं। वे तो अपने भाव में मस्त रहते और काली के प्रेम में मतवाले होकर काली की ही प्रसन्नता के लिए भजन गाया करते।

राजा कृष्णचन्द्र

वह कुमारहट्ट ग्राम नवद्वीप के राजा महाराज कृष्णचन्द्र की जमींदारी के अन्तर्गत पड़ता था। इसी ग्राम में उनका आरोग्य-निवास और कचहरी भी स्थित थी। कभी कभी तो वे विश्राम करने के लिए भी गंगातट के इस ग्राम में आया करते थे। एक बार रामप्रसाद गंगा में उतरकर बाह्य-संज्ञा भूले माँ के भजन गाने में मग्न थे कि संयोगवश महाराज कृष्णचन्द्र की नौका उधर से होकर गुजरी। राजा उनका गायन सुनकर मुग्ध हुए और नाव रुकवाकर उन्होंने पूरा भजन सुना। बाद में उन्होंने रामप्रसाद से नवद्वीप आने का अनुरोध किया। रामप्रसाद पशोपेश में पड़े। मातृ-साधना छोड़कर भला एक दरबार की सेवा में कैसे जायँ? और राजा का आमंत्रण अस्वीकार करने पर उनका कोप-भाजन बनना पड़ सकता है। अन्त में उन्होंने विनयपूर्वक महाराज के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। राजा क्रोधित होने के बजाय प्रसन्न ही हुए। उनका वैराग्य देखकर उन्होंने सौ बिघा लगान-रहित जमीन उनके नाम कर दिया और उन्हें 'कविरंजन' की उपाधि से सम्मानित किया।

रामप्रसाद नमकहराम नहीं थे, इसलिए आभार-प्रदर्शन के रूप में कुछ ही दिनों बाद 'विद्यासुन्दर' नामक काव्य लिखकर महाराजा के फिर आने पर उन्हें समर्पित किया।

साधना और सिद्धि

रामप्रसाद के घर के पास ही एक निर्जन वाटिका थी, जो लता-गुल्मों आदि से परिपूर्ण होने के कारण साधना के लिए खूब उपयुक्त थी। उन्होंने वहीं पर अपनी शक्ति-साधना करने का निश्चय किया। तंत्रशास्त्रों के निर्देशानुसार वहाँ उन्होंने एक साथ ही पीपल, बेल, आँवला, अशोक तथा बरगद के पौधे रोपकर एक पंचवटी तैयार किया। और शास्त्रों में तंत्र-साधकों के बैठने के लिए जिस पंचमुण्डी आसन का विधान है,उसी के अनुसार उन्होंने सर्प, मेढ़क, खरगोश, सियार और मनुष्य के कपाल भूमि में गाड़कर उसके ऊपर आसन का निर्माण किया। इसी आसन पर आसीन होकर उन्होंने अपनी अधिकांश साधनाएँ की और सिद्धि प्राप्त किया। उनका सारा दिन उसी आसन पर व्यतीत होता। केवल दिन में एक या दो बार ही वे भोजन के लिए घर जाते। तीव्र साधना में उनका बहुत काल बीत गया। दिन, तिथि, नक्षत्र का उन्हें कुछ भी बोध न रहा। माँ के दर्शन के लिए वे व्याकुल हो उठे। वे 'माँ दर्शन दो, माँ दर्शन दो' – की रट लगाए रहते, कभी गुरुदत्त मंत्र का जप करते, तो कभी नए नए भजनों की रचना करके गाने लगते, यथा –

रे मन, माँ काली का नाम लेकर,
हृदय रुपी समुद्र के अतल जल में डुबकी लगा ।
दो-एक डुबकी लगाने पर यदि धन न मिला तो
यह न समझना कि रत्नाकर रत्नों रत्न से रहित है ।

बहुत दिनों तक माँ का दर्शन न मिलने पर भी वे निराश नहीं हुए। आखिरकार एक दिन उनकी मनोकामना पूरी हुई। माँ का दर्शन पाकर उनका मन प्रकाश से परिपूर्ण और शरीर ज्योतिष्मान हो उठा। कहते हैं कि रामप्रसाद को अनेक बार माँ काली ने विविध रूपों में दर्शन दिये थे।

एक बार की घटना इस प्रकार है। उनका घर जगह जगह से टूट-फूट गया था। गरीबी के कारण वे मरम्मत नहीं करा पाते थे। एक दिन रामप्रसाद ने स्वयं अपने घर का बाड़ा बनाना शुरू किया। उनकी पुत्री जगदीश्वरी उन्हें इस कार्य में सहायता कर रही थी। इधर से वे डोरी डालते और उधर से वह बालिका वापस डाल रही थी। कुछ काल बाद सहसा उसे कोई जरूरी काम याद आया और वह पिता को बिना बताए घर में चली गई। थोड़ी देर बाद जब वह वापस लौटी तो देखा कि बाड़ा काफी दूर तक बाँधा जा चुका है। आश्चर्यचकित हो उसने पिता से पूछा कि किसने उनकी सहायता की है। दूसरी ओर से रामप्रसाद ने उत्तर दिया – क्यों बेटी, तुम्हीं तो इतनी देर से मेरी सहायता कर रही हो। वह बोली – नहीं पिताजी, मैं तो काफी देर पहले कुछ आवश्यक कार्यवश घर के भीतर चली गई थी। रामप्रसाद को समझते देर न लगी कि जगदम्बा काली ही कन्या का रूप धरे इतनी देर से उनकी सहायता कर रही थीं। वे हाथ मलकर रह गए। उन्हें पछतावा होने लगा कि माँ कृपावश आयी और मैं उन्हें देख न सका, पहचान भी न सका। जगदम्बा के प्रति कृतज्ञता से उनका हृदय पूरित हो गया और उनके भाव फूट उठे एक भजन के रूप में –

मन, क्यों तू माँ के चरणों का चिन्तन नहीं करता
शक्ति का ध्यान कर, तो मुक्ति पाएगा;
भक्ति की डोरी से तू माँ को बाँध ले।
तेरा भाग्य कैसा फूटा हुआ है, जो
माँ आयीं और कन्या का रूप धारण कर
घर का बाड़ा बाँधकर चली गयीं,
और आँख रहते हुए भी तूने माँ को नहीं देखा !

रामप्रसाद के भजन बड़े ही मधुर तथा भावपूर्ण हैं। कहते हैं कि एक बार वे नाव में बैठकर गंगापथ से कलकत्ते आ रहे थे। रास्ते में वे स्वरचित भजन गा रहे थे। चलते चलते गंगा-तट पर स्थित चित्पुरेश्वरी का काली-मन्दिर निकट आया, तो उनका गीत सुनकर काली-मूर्ति ने उसी समय अपना चेहरा दक्षिण (गंगा) की तरफ फेरकर दृष्टिपात किया।

रामप्रसाद के बारे में एक अन्य घटना प्रसिद्ध है, जिसका उल्लेख उनके द्वारा रचित कई भजनों में मिलता है। एक दिन उनका मधुर भजन सुनने एक सुन्दर युवती उनके गाँव आयी। रामप्रसाद ने कहा कि मैं स्नान करने जा रहा हूँ लौटकर भजन सुनाऊँगा। वे काली के चिन्तन में इतने विभोर थे कि वहाँ से लौटते उन्हें काफी समय लग गया। लौटकर आए पर उन्होंने महिला को वहाँ न पाया। पास की दीवाल पर लिखा था, "मैं अन्नपूर्णा हूँ, तेरे भजन सुनने आयी थी, पर मेरे पास प्रतीक्षा करने का समय नहीं है। वाराणसी आकर भजन सुना जाना।"

रामप्रसाद की विचित्र मनःस्थिति हुई। वे मन-ही-मन स्वयं को धिक्कारने लगे। हाय ! माँ अन्नपूर्णा स्वयं ही मेरे भजन सुनने आयीं और मैं हतभागा उन्हें बैठाकर स्नान करने चला गया। खैर, उन्होंने तत्काल निश्चय किया कि वे माँ को भजन सुनाने काशी जाएँगे। प्रयाग स्थित संगम तक पहुँचते ही स्वप्न में माँ अन्नपूर्णा का दर्शन और निर्देश मिला – तुम्हें वाराणसी जाने की जरूरत नहीं, घर में ही मुझे भजन सुनाओ। और वे रास्ते से ही लौट आए –

मुझे काशी जाने की क्या जरूरत?
माँ के चरणों के नीचे ही तो
गया, गंगा और वाराणसी पड़े हैं।
हृदय कमल में ध्यान करते समय
मैं आनन्द सागर में डूबता उतराता हूँ।
अरे, काली के चरणरूपी
कमल ही तो महातीर्थ वाराणसी है।

एक बार उनके मन में इच्छा हुई कि कमल के फूलों से माँ की पूजा करेंगे। परन्तु कमल के फूल उस समय वहाँ नहीं थे। वे व्याकुलतापूर्वक रोने लगे। उन्हें निर्देश मिला कि घर के बाहर के कोने के पेड़ पर कमल खिले हैं। उन्होंने बाहर आकर देखा – सचमुच ही वहाँ तेन्दू के वृक्ष पर सैकड़ों कमल खिले थे। उन्होंने मन भर फूल तोड़कर माँ की पूजा की।

आजू गोसाईं की पैरोडियाँ

उसी गाँव में आजू गोसाईं नाम के एक अन्य वैष्णव कवि निवास करते थे। रामप्रसाद के गीत सुनकर वे उनके उत्तर में पैरोडियाँ बनाने में सिद्धहस्त थे। केवल व्यंग्य-विनोद के लिए रामप्रसाद के भजनों का उत्तर लिखा करते, उनमें कोई वैमनस्य का भाव न था। उनके उत्तर भी खूब सटीक और भाव-गाम्भीर्य में मौलिक भजनों से किसी माने में कम नहीं होते थे।

रामप्रसाद का एक भजन है –

यह संसार धोखे की टट्टी है।
ओ भाई, मैं इस आनन्द के बाजार में लुट रहा हूँ।

आजू गोसाई ने उत्तर में लिखा था –

यह संसार रस की कुटिया है।
मैं यहाँ खाता, पीता और मौज उड़ता हूँ।

रामप्रसाद ने लिखा –

रे मन, तुझसे मेरा अनुरोध है कि
तू पढ़नेवाला पक्षी बन जा।
जो भी पढ़ाऊँ उसे पढ़ते जाने से दूध-भात मिलेगा
और न पढ़ने से तुझ पर मार भी पड़ेगी।

आजू गोसाई ने उत्तर में लिखा –

रे मन, तू बिल्कुल भी पढ़नेवाला पक्षी न बनना।
क्योंकि बन्दी होकर कोई भी सुख नहीं पाता।
पक्षी बन जाने से तू ज्ञान की बातें भूल जाएगा
और तेरे दिन पिंजरे के भीतर ही बीतेंगे।
मुख से दूसरों की बात कहने से
क्या तुझे परम तत्त्व का ज्ञान हो सकेगा?

रामप्रसाद का एक सुन्दर भजन है –

आओ मन टहलने चलें।
काली रूपी कल्पवृक्ष के नीचे, तुम्हें (धर्म,
अर्थादि) जीवन के चारों फल मिल जाएँगे।
प्रवृत्ति और निवृत्ति नामक दोनों पत्नियों में से
तू केवल निवृत्ति को ही साथ ले।
उसके विवेक नामक बेटे से ज्ञान की बातें पूछना।
यदि मोह तुझे पकड़कर खींचे
तो तू धैर्यरूपी खूँटे को पकड़े रह।
धर्म तथा अधर्म – इन दो बकरों को
उपेक्षारूपी खूँटी से बाँधे रख।
यदि न मानें तो ज्ञानखड्ग से उनकी बलि दे देना।

आजू गोसाईं का उत्तर भी कम रोचक न था –

क्यों मन, क्यों घूमने जाएगा।
किसी की भी बात में आकर
कहीं भी बेकार घूमने न जाना,
अन्यथा नाहक ही बीच मैदान में मारा जाएगा।
तेरी भला क्या बिसात कि तू स्वयं
प्रवृत्ति और निवृत्ति को पहचान सके
तू तो मद्य के नशे में, बीच गंगा में ही
अपनी नाव डूबा लेगा।
और कल्पतरु के नीचे जाकर
तुझे फल तो कुछ लेना है
और ले बैठेगा कुछ दूसरा ही।

उपरोक्त कुछ भजनों तथा उनके उत्तरों से पाठक समझ गए होंगे कि आजू गोसाईं की प्रतिभा कितनी प्रखर थी।

जीवन का अन्तिम दिवस

उनकी इच्छा थी कि वे गंगा की गोद में प्राणत्याग करें। उनके एक भजन में मिलता है –

हे माँ नारायणी, रामप्रसाद की यह प्रार्थना सुन।
जब इस देह का अन्तकाल आ जाय
तो मुझे खींचकर गंगा जल में डाल देना।।
रामप्रसाद कहते हैं कि किसका क्या फल होता है,
मैं व्यर्थ ही शास्त्र रट-रटकर मरता रहा,
अब ब्रह्ममयी का ध्यान करते हुए
मेरा ब्रह्मरन्ध्र फट जाय।

रामप्रसाद प्रति वर्ष दीपावली के दिन स्वयं अपने हाथों से काली-प्रतिमा बनाकर पूजन किया करते थे। और अमावस्या की उस घोर रात में नवीन भजनों की रचना कर माँ को सुनाया करते थे। आसपास के गाँवों से भी लोग उनकी जीवन्त पूजा देखने आया करते थे। इस बार (सन् १७८२ में) उन्होंने निश्चय कर लिया था कि माँ काली की मृण्मयी प्रतिमा का विसर्जन करने के साथ अपना भी पंचभौतिक देह त्याग कर माँ के साथ ही मातृलोक को चल देंगे। तब उनकी आयु ८० वर्ष और किसी किसी के मत में १०० वर्ष थी। प्रति वर्ष की भाँति इस बार भी पूजन के बाद काली-मूर्ति को लोग गंगा में विसर्जन करने ले चले। रामप्रसाद ने अपने गाँव, साधन-पीठ आदि सबसे मन-ही-मन प्रणामपूर्वक विदा ली।

कहते हैं माँ की मूर्ति विसर्जित होने के पूर्व वे माँ-गंगा के गर्भ में बैठकर उन्होंने चार भावपूरित भजन गाए जो उनकी अन्तिम रचनाएँ मानी जाती है –

१. हे यमराज, थोड़ा ठहर जा
मैं थोड़ा जी भर कर माँ को पुकार लूँ।
जरा यह भी देख लूँ कि
मेरे संकटकाल में ब्रह्ममयी आयीं या नहीं। ...

२. चलो भाई, देखें कि मरने से क्या होता है।
लोग इस विषय में कितना
वाद-विवाद किया करते हैं।
कोई कहता है कि तू भूत-प्रेत होगा
और कोई कहता है स्वर्ग जायेगा। ...

३. संसार में आना और असंख्य आशाएँ
केवल आना मात्र ही हुआ
मानो चित्र में अंकित कमल पर मँडराते हुए
भौंरा धोखा खाकर रह गया।
बातचीत में छल करके माँ,
चीनी बताकर तूने मुझे नीम खिला दिया।
मिठाई के लोभ में, तीता मुख लिए
मेरा सारा जीवन बीत गया।
माँ! खेलने का वायदा करके
तू छलपूर्वक मुझे धरती पर लाई।
पर जिस खेल में तूने लगाया
कि मेरी एक भी आशा पूरी न हुई।
रामप्रसाद कहता है कि खैर,
इस संसार-खेल में जो होना था, सो हुआ।
अब जीवन के इस संध्या काल में
अपने गोदी के लाल को घर ले चल।

४. हे माँ तारा, तेरे मन में क्या है?
माँ, अब तक जैसे सुख में तूने रखा,
आगे भी क्या वैसा ही सुख है! ❑❑❑

गीता में पुरुषोत्तम-योग

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतांचा अन्तरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी अंक से क्रमशः प्रकाशित कर रहे है। – सं.)

जिनका संस्कृत साहित्य से परिचय है, उन्हें एक श्लोक अवश्य ज्ञात होगा। इस श्लोक में कहा गया है –

काव्येषु नाटकं रम्यं, तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः तत्र श्लोक चतुष्टयम् ।।

– 'सम्पूर्ण काव्यमय साहित्य में नाटक अत्यन्त आह्लाददायक होता है। सभी नाटकों में कविवर कालिदास का 'शकुन्तला' नाम का नाटक ही परम आकर्षक है। सम्पूर्ण शाकुन्तल में उसका चौथा अंक ही सर्वाधिक सरस है और इस चौथे अंक में भी (**यास्यत्यद्य शकुन्तला**... आदि) चार विशिष्ट श्लोक अत्यन्त मनोहर हैं।' किसी काव्य-रसिक ने चढ़ते क्रम से अपने चरम निष्कर्ष को बड़े ही मार्मिक तथा सटीक रूप में इस श्लोक के माध्यम से व्यक्त किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता के 'पुरुषोत्तम योग' नामक पन्द्रहवें अध्याय में निम्न चार श्लोकों से अनेक लोग परिचित होंगे। भगवान इसमें अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को बताते हैं –

द्वौ इमौ पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।
यस्मात् क्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।
यो माम् एवम् असंमूढ़ो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्ववित् भजति माम् सर्वभावेन भारत ।।''

– 'हे कौन्तेय, इस जगत् में दो पुरुष हैं, एक क्षर और एक अक्षर। क्षर अर्थात् सतत परिवर्तनशील ये समस्त प्राणी और अक्षर अर्थात् इन सबके अन्तःकरण में बसनेवाला अपरिवर्तन -शील साक्षी पुरुष। परन्तु इन दोनों से भी भिन्न एक पुरुष है और वही सर्वश्रेष्ठ पुरुष है। वही इन सर्वभूतों की सच्ची आत्मा है, इस कारण उसे परमात्मा कहा गया है। वह इस त्रिभुवन में ओतप्रोत रहकर उसका पालन करनेवाला ईश्वर है। मैं क्षर से परे हूँ, अक्षर से भी श्रेष्ठ हूँ, इसीलिए मुझे वेदों और विश्व में पुरुषोत्तम कहा गया है। मोहरहित होकर जो इस रीति से मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ होता है और पूरे अन्तःकरण से मेरी भक्ति करता है।'

लेख के प्रारम्भ में उल्लिखित काव्यरसिक का अनुकरण करते हुए, गीता के इन चार श्लोकों को चढ़ते क्रम के रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है –

धर्मशास्त्रेषु वेदान्ताः तत्र गीता महत्तमा।
तत्र पंचदशोऽध्यायः तत्र श्लोक चतुष्टयम् ।।

– समग्र धर्म-विषयक ग्रन्थों में वेदान्त या उपनिषद् श्रेष्ठ है। उन वेदान्त-ग्रन्थों में उपनिषद् या 'भगवद्गीता' को परम महत्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि पूरे वेदान्त का सार इस एक गीता में समाया हुआ है। गीता में भी १५वाँ अध्याय या पुरुषोत्तम-योग परम महत्वपूर्ण तथा सारभूत है। और इस १५वें अध्याय में भी उपरोक्त ४ श्लोक सबसे अधिक महत्वपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सारांशभूत हैं।

* * *

पुरुषोत्तम-योग विषयक इस चार श्लोक के विषय में आरोह क्रम में यह मत व्यक्त करते समय लेख के प्रारम्भ में उल्लेख किये गए काव्यरसज्ञ का अनुसरण किया गया है, ऐसा जो ऊपर कहा गया है वह केवल गौण अर्थ से – श्लोक को बहिरंग की दृष्टि से देखकर कहा गया है। वैसे सच कहें, तो इन श्लोकों के अर्थ की दृष्टि से देखने पर हमने वस्तुतः ब्रह्मरसज्ञ शंकराचार्य, श्रीज्ञानेश्वर, श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द आदि का अनुसरण किया है।

समस्त धर्म-शास्त्रों में, समस्त दर्शन में वेद का अन्तिम भाग या उपनिषद् या वेदान्त-दर्शन ही सर्वश्रेष्ठ जीवन-दर्शन है, यह भगवत्पूज्यपाद आचार्य शंकर ने भाष्य करने के लिए उन्हीं का चयन करके स्पष्ट रूप से दर्शाया है।

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कथित इस गीता में सम्पूर्ण वेद-वेदान्त-उपनिषदों का सार समाहित है। पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "The Bhagavad Gita is the best commentary we have on the Vedanta Philosophy – वेदान्त पर हमें प्राप्त सभी भाष्यों में गीता ही सर्वश्रेष्ठ है।" और एक जगह वे कहते हैं – "The Bhagavad Gita is the best authority on Vedanta – भगवद्गीता वेदान्त का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है।" श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं – "व्यासदेव ने वेदरूपी क्षीरसागर को अपने प्रज्ञारूपी मथानी से मथकर उसमें से गीता-रूपी मधुर नवनीत निकाला है।"

वेद-वेदान्तों के सारभूत गीता के इस १५वें अध्याय को, गीता का कथन करनेवाले भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं ही 'गुह्यतम शास्त्र' (१५,२०) कहा है। भगवान के इन शब्दों के रहस्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं – "वस्तुत: समग्र गीता एक 'शास्त्र' है, तथापि अर्जुन के मन पर इस अध्याय के महत्त्व को बिम्बित करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण ने केवल इस १५वें अध्याय को ही 'शास्त्र' कहा है। इस अध्याय में न केवल समस्त गीता का अर्थ समाया हुआ है, अपितु सम्पूर्ण वेदों का अर्थ भी इस एक अध्याय में समाया हुआ है।"

गीता के ध्यान में कहा गया है कि गीता उपनिषद् रूपी गाय का दूध है। गीता यदि सचमुच ही उपनिषद् रूपी गाय का दूध हो, तो १५वें अध्याय को उस दूध की मलाई कहा जा सकता है। गीता में पहले आत्मज्ञान बतलाया गया है। उस ज्ञान की आँच से यह गीता रूपी दूध गरम होता है। तत्पश्चात् भक्ति बतलाई गयी है। उस भक्ति की शीतलता से वह दूध ठण्डा किया जाता है। और १५वें अध्याय तक धीरे धीरे उस पर मलाई आ जाती है – पुरुषोत्तम-योग रूपी मलाई।

यह पुरुषोत्तम योग समस्त १५वें अध्याय का विषय है, तो भी उपर्युक्त ४ श्लोकों में वस्तुत: उसका सम्पूर्ण कथन किया गया है। और इसीलिए इन समस्त ब्रह्मरसज्ञों का पदानुसरण करते हुए हम नि:सन्देह रूप से, असन्दिग्ध रूप से कह सकते हैं कि ये ४ श्लोक समस्त धर्म-वाङ्मय में अत्यन्त मूल्यवान, श्रेष्ठ और सबके सारभूत हैं।

- २ -

इन चार श्लोक में पुरुषोत्तम-योग का वर्णन करने के बाद भगवान अर्जुन से कहते हैं –

इति गुह्यतमं शास्त्रम् इदं उक्तं मयाऽनघ।
एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ।।

– 'हे निष्पाप पार्थ, यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र, अत्यन्त गूढ़ गम्भीर सत्य मैंने तुम्हें बताया। उसका आकलन करनेवाला ही यथार्थ बुद्धिमान है। हे अर्जुन, वही कृतार्थ हो सकता है।'

सचमुच ही तो, भगवान ने कितना गम्भीर सत्य यहाँ कितने अपूर्व अद्भुत पद्धति से बताया है। अन्तिम धार्मिक अनुभूति को प्राप्त कर चिर-कृतार्थ होने का यह एक कितना सुन्दर, मानव-स्वभाव के लिए कितना उपयोगी उपाय भगवान ने गीता के पुरुषोत्तम-योग द्वारा बताया है!

* * *

जगत् तथा जीवन का अन्तिम सत्य जो परब्रह्म है, उसका सुस्पष्ट वर्णन केवल गीता में ही किया गया हो, ऐसा नहीं है। हम हिन्दुओं के जो उपनिषद् नामक धर्मग्रन्थ हैं, उनमें ब्रह्म के स्वरूप को विभिन्न प्रकार से स्पष्ट करके बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार द्वारा नारद के समक्ष किया गया विषय-विषयी रहित 'भूमा' का वर्णन; बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य द्वारा ब्रह्मवादिनी गार्गी को बताया गया परब्रह्म का 'नेति' 'नेति' स्वरूप; ब्रह्मसूत्र का 'जन्मादि अस्य यत:' इस एक ही सूत्र में व्यासदेव के द्वारा ग्रथित ब्रह्मतत्त्व किस सत्याकांक्षी साधक को आनन्दित नहीं करेगा, किस सत्याकांक्षी साधक को ब्रह्मप्राप्ति के लिए साधना में प्रवृत्त नही करेगा?

इन सबसे मोहित होकर, इन सबसे प्रोत्साहन पाकर जब साधारण साधक उस सर्वातीत, सर्वव्यापी परब्रह्म के चिन्तन में मग्न होने का प्रयत्न करता है, तब ... !

तब उसे दिखाई देता है, तब उसे अपने अन्त:करण में अनुभव होता है कि उस 'विषय-विषयी'-हीन 'नेति' 'नेति', निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी, अखण्ड, परम सत्य-स्वरूप परब्रह्म का चिन्तन करना बड़ा कठिन कार्य है, ईमानदारी से स्वीकार करें, तो प्राय: असम्भव ही है!

ब्रह्म का – जीवन के अन्तिम, परम सत्य की प्राप्ति तो होनी ही चाहिए, इस परिवर्तनशील, झूठी, छल-कपट से भरी दुनिया में अब मन नही लगता, सत्य पाने को प्राण व्यथित हो रहे हैं, पर उस अवाङ्मनसगोचर अतीन्द्रिय सत्य की, ब्रह्मतत्त्व की धारणा कैसे भी जम नहीं रही है। अब उपाय क्या है?

उपाय अनेक हैं। मनुष्य के स्वभाव से, मानवी मन के गठन से, मानवी मनोभाव से अत्यन्त मेल खाता हुआ एक सुन्दर उपाय है – गीता का पुरुषोत्तम-योग।

* * *

वेद-वेदान्त-उपनिषद्-ब्रह्मसूत्र आदि में जिसे परब्रह्म कहा गया है, इस निखिल सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-लय करनेवाला, मन-वाणी के अतीत रहनेवाला आदि तत्त्व ही पुरुषोत्तम के अवतार के रूप में मनुष्य-रूप धारण कर तुम्हारे हमारे समान साधकों के मंगलार्थ पृथ्वीधाम पर अवतीर्ण होता है। वह अणु-रेणु में पूर्णत: ओतप्रोत रहनेवाला परब्रह्म ही कृष्ण है, राम है, रामकृष्ण है! भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – "**वेदैश्च सर्वै: अहमेव वेद्य:** – सब वेदो द्वारा जिसे जाना जा सकता है वह परम ब्रह्म मै ही हूँ।" भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं –

अजोऽपि सन् अव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय सम्भवामि आत्ममायया ।।

– 'हे पार्थ, मैं वस्तुत: अज, अव्यय, सर्वभूतों का पूरे चराचर का ईश्वर होने के बावजूद अपनी अनिर्वचनीय शक्ति को अपने वश में रखकर मनुष्य रूप में जन्म लेकर नरलीला करता हूँ।'

मानव ब्रह्म बन सके, इसलिए कृपा करके ब्रह्म ही मानव बनता है – लीला में नररूप धारण करता है। मानव को उच्च पद प्राप्त हो सके, इसीलिए अनुकम्पा के कारण ब्रह्म ही नीचे उतरता है – नररूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण होता है!

मुमुक्षु साधकों पर अनुग्रह करने के लिए ही नररूप धारण किये हुए परब्रह्म को ही यहाँ पुरुषोत्तम कहा गया है।

यह नर-रूपधारी ब्रह्म अवाङ्मनस-गोचर, अतीन्द्रिय होकर भी वाणी को, मन को तथा इन्द्रियों को गम्य है। उसका, उस नररूपी ब्रह्म का, पुरुषोत्तम का ध्यान करना, उसके नाम का जप करना, उसकी सेवा-उपासना-अर्चना करना, उससे प्रेम करना मानवीय स्वभाव की दृष्टि से कितना सहज है! मनुष्य अपने ही समान मनुष्य के साथ सहज ही प्रेम कर सकता है। पुरुषोत्तम वह मानव है – लीला-मनुष्य है। पुरुषोत्तम-ब्रह्म या अवतार-ब्रह्म अतीन्द्रिय होने के बावजूद भी इन्द्रियगम्य होता है। इन्द्रियगम्य होने के बावजूद भी अतीन्द्रिय होता है। कहते हैं कि बालक कृष्ण को नृत्य करते देखकर किसी ने कहा था – **वेदान्त-सिद्धान्तो नृत्यति** – "वेदान्त का सिद्धान्त अर्थात् परब्रह्म नाच रहा है!" यही है गीता का 'पुरुषोत्तम'।

मानवीय मन का स्वरूप ही ऐसा होता है कि मानव जब तक मानव है, जब तक वह अपने मानवत्व का उल्लंघन कर दिव्यत्व में प्रतिष्ठित नहीं होता, तब तक वह विषय (object) एवं विषयी (subject), ज्ञान और ज्ञेय भाव को कदापि नहीं त्याग सकता। तो विषय-विषयी की भावना से पूर्णत: अतीत परब्रह्म, इस ज्ञाता-ज्ञेय के भाव से आबद्ध मन को कैसे प्राप्त होगा? और इसीलिए सत्याकांक्षी साधकों पर अनुग्रहार्थ वह विषय-विषयी भाव के अतीत ब्रह्म ही विषय बनकर अवतीर्ण होता है! विषय-विषयी भाव से शून्य 'विषय' – ही गीता में वर्णित 'पुरुषोत्तम' है! मनुष्य के रूप में मनुष्य से प्रेम करना, उसका चिन्तन करना सहज-स्वाभाविक रूप से ही सम्भव है।

* * *

सत्य है कि पुरुषोत्तम या अवतार मूर्त ब्रह्म होते हैं, पर वे परब्रह्म की मूर्ति नहीं होते – पुरुषोत्तम परब्रह्म की मूर्ति, प्रतिमा या प्रतीक नहीं हैं, पुरुषोत्तम या राम-कृष्ण आदि अवतार साक्षात् ब्रह्म ही हैं – घनीभूत ब्रह्म – अनुकम्पा के कारण घनीभूत होकर मानवरूप धारण किया हुआ ब्रह्म। वेदान्त की दृष्टि से, तत्त्व की दृष्टि से, 'अब्रह्मणि ब्रह्म' दृष्टि से तरह तरह के मूर्ति-ब्रह्म होते हैं। पुरुषोत्तम या अवतार ब्रह्म हैं – स्वयं – साक्षात् – प्रत्यक्ष – 'ब्रह्मणि ब्रह्म' दृष्टि से, अनध्यस्त विवर्त!

* * *

मनुष्य इस ईश्वर की कल्पना मनुष्य के रूप में ही करेगा। मानव द्वारा कल्पित ईश्वर एक सर्वशक्तिमान मानव ही होगा। मानव स्वयं के मन की, स्वयं के मानवत्व की सीमा को कैसे लाँघेगा? पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द इस वस्तुस्थिति को अति मार्मिक रीति से बताते थे। वे कहते कि यदि कोई भैंस ईश्वर-विषयक कल्पना करे, तो उसके मानस-पटल पर एक विशाल सर्वशक्तिमान भैंस का चित्र उभरेगा। यही उसकी ईश्वर-विषयक कल्पना होगी। यदि कोई सूअर ईश्वर-विषयक कल्पना करे, तो एक महाकाय, सर्वशक्तिमान सूअर ही उसका ईश्वर होगा। मानव के साथ भी ऐसा ही है। उसके द्वारा कल्पित ईश्वर भी एक बड़ा सर्वशक्तिमान मानव ही होगा। यदि ऐसा हो, तो फिर स्वयं की दुर्बल, अस्पष्ट, संकुचित कल्पना-शक्ति द्वारा निर्मित मानवी ईश्वर की जगह सचमुच ही मानव-रूप धारण किए हुए इस ईश्वर की – पुरुषोत्तम की – अवतार की उपासना, क्या मानव के लिए स्व-स्वभाव-संगत, स्व-स्वभाव-अनुरूप नहीं होगा?

* * *

गीता का पुरुषोत्तम एक मनुष्य है। वह केवल एक भव्यीकृत (magnified) मनुष्य नहीं है; अतिमानव (superman) भी नहीं है। वह लीला-मनुष्य है। लोग उसे मानव समझकर प्रेम कर सकें, इसलिए मानव हुआ है, तथापि परब्रह्म है। वह पूर्ण मानव होकर भी परब्रह्म है और पूर्ण परब्रह्म होकर भी मानव है। अतीन्द्रिय अमूर्त ब्रह्म की प्राप्ति हेतु वह एक सुन्दर, मानव प्रकृति के अनुकूल, इन्द्रियगम्य, मूर्त आधार है।

- ३ -

इस पुरुषोत्तम की, अवतार की उपासना कैसे की जाय? इस पुरुषोत्तम के द्वारा परब्रह्म से – विश्व के उस अन्तिम सत्य से किस प्रकार योग साधा जाय?

* * *

पुरुषोत्तम की यह उपासना, पुरुषोत्तम द्वारा परब्रह्म से यह योग, साधक को अपने ही अन्तर्मन में, अपनी ही अन्तरात्मा में, अपने ही बोध में, स्वयं में ही स्थापित करना होगा। यह बात स्वयं के (being के) 'बाहर' कहीं होना सम्भव नहीं है।

भगवान कहते हैं – हे अर्जुन, तुम स्वयं की ओर या जगत् के किसी भी व्यक्ति की ओर नजर डालो, तो तुम्हें पता चलेगा कि मानव जिस 'मैं' 'मैं' 'मैं' का अनुभव करता है, वह 'मैं' सदैव सतत बदलता रहता है। 'मैंने खाया, मैं बाजार कर रहा हूँ, मैं पढ़ रहा हूँ, मैं छोटा था, मैं युवा हूँ, मैं वृद्ध होऊँगा' – इस प्रकार सतत बदलते हुए अनुभवों का प्रवाह ही सर्व-साधारण व्यक्ति का 'मैं' है। शरीर में, मन में होनेवाले हर परिवर्तन के साथ यह 'मैं' भी बदलता रहता है। यही साधारण मानव का जन्म से लेकर मृत्यु तक का जीवन है। इसे कहते हैं क्षर पुरुष – 'परिवर्तनशील मैं'।

* * *

पर मजे की बात तो यह है कि 'खानेवाला मैं' 'बाजार जानेवाला मैं' 'पढ़नेवाला मैं' 'बालक मैं' 'तरुण मैं' 'प्रौढ़ मैं' – इस तरह 'मैं' सतत बदलता रहता है, तो भी हर व्यक्ति को ऐसा बोध होता है कि ये सभी बदलती हुई अवस्थाएँ 'मेरी' ही

हैं। क्योंकि बालक का 'मैं' यदि पूरी तौर से बदल गया होता, तो वही बालक कदापि न कह पाता कि 'अब मैं युवा हूँ'। साधारण, बहिर्मुख, स्थूल दृष्टिवाले मनुष्य का जीवन इस बदलते हुए 'मैं' का प्रवाह है, तथापि मन को थोड़ा-सा शान्त करके अनुभव करने का प्रयत्न करें, तो बोध होता है कि यह 'मैं' बदलता तो जरूर है, पर वह पूरी तौर से नहीं बदलता, इन परिवर्तनों के बीच एक सूत्र के समान पिरोये हुए के समान उसी 'मैं' का एक अन्य स्वरूप है। अर्थात् यह 'मैं' बदलता भी है और नहीं भी बदलता है। इस बदलते हुए 'मैं' में सूत्र की भाँति पिरोया हुआ 'न बदलता मैं' ही है – अक्षर पुरुष।

सिनेमा के चित्र बड़े वेग से बदलते रहते हैं और इसलिए हमें उसमें दृश्य आदि दिखाई देते हैं। परन्तु जिस परदे पर पड़कर ये सब बदलते हुए चित्र हमें सजीव कथा के रूप में दिखाई देते हैं, वह परदा नहीं बदलता। उस परदे के अपरिवर्तनशील होने के कारण ही इस बदलती हुई चित्रमालिका में हमें एक सजीव कथा का बोध होता है। स्थूल रूप से, इस परदे से 'अक्षर पुरुष' की और बदलती हुई चित्रमालिका से 'क्षर पुरुष' की उपमा दी जा सकती है। वह अपरिवर्तनशील परदा ही इन सब चित्रों का, बदल रहे हर चित्र का आधार होता है।

* * *

कल्पना कीजिए कि एक अबोध बालक एक पानी की टंकी के पास बैठा है। पूर्णिमा की तिथि को रात का समय है। वह बालक अपने हाथ से पानी को हिलाकर उस टंकी के पानी में सतत तरंगें पैदा कर रहा है और देख रहा है – पानी का चाँद सतत टूट रहा है, बिखर रहा है। वह बालक निरन्तर उस घटना को बड़े मजे से देख रहा है और पानी को हिला-हिलाकर चाँद का टूटना-बिखरना देखता हैं। उसे इस बात का आश्चर्य होता है कि इतनी बार टूटने तथा बिखरने के बाद भी वह चाँद अब भी वहीं और वैसा ही है। उसका लोप नहीं होता। वह टूटता-बिखरता है, तथापि टूटता-बिखरता नहीं! काफी देर तक इस रोचक खेल को देखने के बाद अब वह बालक पानी को हिलाना बन्द कर देता है। पानी स्थिर हो जाता है और आश्चर्य की बात! अब वह पानी का चन्द्रमा बिल्कुल भी नहीं टूटता। स्वच्छ, चमचमाता, पूर्ण चन्द्र! पुन: वह बालक पानी को हिलाता है और पुन: चन्द्रमा का टूटना-बिखरना आरम्भ हो जाता है! पानी हिलाना रुकते ही फिर पूर्ण चन्द्र! वह आश्चर्यचकित हो, आनन्दित हो इधर-उधर देखता है कि यह विलक्षण चाँद इस पानी में कहाँ से आया, इस प्रकार ढूँढ़ते हुए बालक की दृष्टि ऊपर आकाश की ओर उठती है। वह चकित दृष्टि से वहाँ शोभायमान पूर्ण चन्द्र को देखता है। अरे, तो क्या वही चाँद इस पानी में दिख रहा है – पानी में दिखनेवाला यह उस आकाश के चाँद का ही प्रतिबिम्ब है! अब आया समझ में – आकाश का चाँद ही पानी में प्रतिबिम्बित हो रहा है और इसीलिए पानी को हिलाने से प्रतिबिम्ब भी हिलता है। आकाश का चाँद ही उस शान्त, न टूटते-बिखरते प्रतिबिम्ब के रूप में दिख रहा है और टूटते-बिखरते रूप में भी। और फिर वह इस टूटते हुए तथा न टूटते हुए प्रतिबिम्ब से अलग भी है।

हमारा मन ही वह जल है। हमारी विभिन्न मनोवृत्तियाँ ही जल पर उठनेवाली तरंगें हैं। टूटता-बिखरता प्रतिबिम्ब ही अक्षर पुरुष है। न टूटता-बिखरता प्रतिबिम्ब अक्षर पुरुष है। और क्षर-अक्षर के रूप में विलसित होने वाला, पर दोनों से भिन्न चन्द्रमा ही 'उत्तम पुरुष' – परब्रह्म है। यह परब्रह्म ही कृष्णरूप धरकर अर्जुन के समक्ष खड़ा था! पुरुषोत्तम ब्रह्म!

* * *

इस बदलते हुए 'मैं' की क्षर-पुरुष को ही भगवान ने 'क्षेत्र' कहा है और बदलनेवाले 'मैं' को, अक्षर पुरुष को 'क्षेत्रज्ञ' कहा है। 'क्षेत्र' भगवान की 'अपरा प्रकृति' होने से 'क्षेत्रज्ञ' को उन्होंने अपनी 'परा प्रकृति' कहा है। अपनी इन दो प्रकृतियों के द्वारा ही भगवान इस चराचर विश्व के रूप में क्रीड़ा कर रहे हैं। भगवान कहते हैं, "इन सभी चराचरों में मैं ही व्याप्त हूँ और सम्पूर्ण चराचर मुझमें स्थित है, परन्तु मजे की बात तो यह है कि वस्तुत: मैं भी चराचर में नहीं हूँ और चराचर भी मुझमें नहीं है।" क्योंकि वस्तुत: चराचर तो है ही नहीं, हैं तो केवल भगवान ही। वह एक ही सच्चिदानन्द-सिन्धु विभिन्न नाम-रूपों की तरंगों में तरंगायित हो रहा है।

अज्ञानवश ही हम 'मैं' 'मैं' व 'मेरा' 'मेरा' करते रहते हैं। यह जगत् तथा स्थूल-सूक्ष्म सर्व प्रकार के 'मैं' का, आज जैसा अनुभव हो रहा है उसका स्वरूप पूर्णत: मिथ्या होने से, उसे वस्तुत: उस एकमेवाद्वितीय पुरुषोत्तम का ही लीला-विलास जानकर अपने परिवर्तनशील तथा अपरिवर्तनशील सम्पूर्ण 'अहंता' को ज्ञान से उद्भासित कर, अंतरंग में निवास करनेवाले उस 'उत्तम पुरुष' में – परब्रह्म में विलीन कर देना ही गीतोक्त पुरुषोत्तम या अवतार की उपासना है। 'मैं और मेरा' नहीं 'तुम और तुम्हारा' – इस ज्ञान से, इस बोध से विमल, विशुद्ध, गम्भीर, अनन्य, अव्यभिचारी, प्रेम-भावना उमड़ आने से साधक सच्चे ज्ञान तथा सच्ची भक्ति का अधिकारी बनकर अन्तत: अन्दर और बाहर सर्वत्र उन सर्वभूतमय प्रभु का साक्षात्कार पाकर धन्य होता है, कृतकृत्य होता है।

इस चरम कृतकृत्य अवस्था में साधक जिस परब्रह्म से एक हो जाता है, वही परब्रह्म राम, कृष्ण, रामकृष्ण आदि रूपों में अवतरित होता है। और इसीलिए अपनी रुचि-अनुसार इनमे से किसी की भी ऊपर बतायी विधि के अनुसार उपासना करने को ही गीता के १५वें अध्याय में पुरुषोत्तम योग कहा गया है।

* * *

कितना सुन्दर, कितना मधुर है यह मार्ग! और स्वयं पुरुषोत्तम ने ही इसे दिखाया है। कल्पना करें कि शुकदेव के समान ब्रह्मविद्या के कोई आचार्य हमारे लिए इस पुरुषोत्तम योग की, इस अवतार-उपासना की व्याख्या कर रहे हैं, परन्तु गीता में श्रीकृष्ण द्वारा बताये गए पुरुषोत्तम योग की बराबरी उसमें आ ही नहीं सकती। क्योंकि उपासक द्वारा उपास्य का रहस्य बताना एक बात है और उपास्य द्वारा स्वयं हीं अपना रहस्य खोलना बिल्कुल ही अलग बात है!

– ४ –

भगवान कहते हैं –

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।।

– 'हे अर्जुन, जो साधक शास्त्रों तथा आचार्यों के उपदेश के अनुसार साधना करते हैं और साथ-ही-साथ स्वयं के चित्त को शुद्ध, पवित्र बनाते हैं, उन्हें स्वयं के अन्तःकरण में, स्वयं के बोध में ही इस सर्वातीत, सर्वगत, सर्व-स्वरूप पुरुषोत्तम का मूर्त साक्षात्कार होता है – उसे 'मैं और जगत्' उन पुरुषोत्तम का लीला-विलास अनुभव होता है। परन्तु हे अर्जुन, जो लोग अन्य साधना करते हुए चित्तशुद्धि की ओर ध्यान नहीं देते, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों, अपनी वासनाओं, अपने अहंभाव को शान्त नहीं किया है, उनका सारा प्रयत्न व्यर्थ जाता है, उन्हें उस आनन्दघन पुरुषोत्तम का साक्षात्कार हो नहीं सकता।''

भगवान असन्दिग्ध रूप से बता रहे हैं कि केवल शास्त्रों का ज्ञान होने से, केवल ध्यान-जप करने से सत्यलाभ नहीं होता। शास्त्र-ज्ञान, जप-ध्यान, आदि अन्य साधना के साथ-ही-साथ चित्तशुद्धि भी करनी पड़ती है। कल्पना करें कि पानी से भरी हुई एक बड़ी-सी टंकी है। और उसके तले में एक सुई पड़ी हुई है। यदि उस पानी में तरंगें उठ रही हों, तो तल में पड़ी होने के बावजूद वह सूई हमें दिख नहीं सकती। तरंगें ठहरते ही वह हमें स्पष्ट और बिना प्रयास के ही दिखेगी। उसी प्रकार हमारे अंत:करण में जब तक 'मैं यह भोग करूँगा, मैं वह भोग करूँगा' ऐसी तरंगे उठती रहती हैं, तब तक उस अन्तःकरण के अन्तःस्थल में वास करनेवाले उस पुरुषोत्तम, हमारी सच्ची आत्मा का बोध होना सम्भव नहीं है।

* * *

'मैं यह भोग करूँगा, मैं वह भोग करूँगा' – हमारे मन में निरन्तर ऐसी तरंगें क्यों उठती रहती हैं? इसका कारण यह है कि इस जगत् की ये भोग्य वस्तुएँ जो आज हमारे अनुभव में आ रही हैं, वे अपने भोग्य स्वरूप में वास्तविक सत्य लगती हैं। और इसीलिए हमारे मन में सतत उन्हें भोगने की कामना उदित होकर हमें निरन्तर उन भोगों के पीछे दौड़ाती रहती हैं।

यह जगत्, जो हमें इतना उपभोग्य लगता है, जिसके पीछे दौड़ते हुए हम जगत् तथा जीवन के चरम सत्य-रूप परमेश्वर को खो देते हैं, भगवान ने इस जगत् के वास्तविक स्वरूप का वर्णन गीता के १५वें अध्याय के आरम्भ से सुन्दर रूप में किया है। वे कहते हैं – भोग्य और भोक्ता से परिपूर्ण यह संसार एक वटवृक्ष के समान है। इस संसार-रूपी वटवृक्ष का न कोई आदि है, न अन्त और न मध्य ही है। क्योंकि जिस रूप में इसका अनुभव हो रहा है, उस रूप में यह मिथ्या है। मृग-मरीचिका का न कोई आदि होता है, न अन्त और न मध्य ही होता है, क्योंकि मृग-मरीचिका पूर्णतया मिथ्या होती है। वस्तुत: मरुभूमि ही उस रूप में लीला करती है। वैसे ही वह सच्चिदानन्द प्रभु ही इस संसार के भोग्य तथा भोगी के रूप में लीला कर रहा है। इनका अपना कोई अलग, स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, आज अनुभव होनेवाला उसका रूप पूर्णत: मिथ्या है।

जिसके हृदय में यह बात भलीभाँति अंकित हो चुकी है, उसके मन में – 'मैं यह भोग करूँगा, मैं वह भोग करूँगा' – ऐसी वासनाओं का उदय नहीं होता। वह जगत्-अभिमुखी न रहकर भगवत्-अभिमुखी हो जाएगा। उसकी दृष्टि ही बदल जाएगी। अत: उसका चित्त शान्त हो जाएगा, निर्मल हो जाएगा, तरंगहीन हो जाएगा। उसे अन्तर्यामी के रूप में वास करनेवाले उन सर्वस्वरूप, आनन्दमय प्रभु के अस्तित्व का अनुभव होने लगेगा। और तब वह अधिकाधिक साधना करके स्थूल-सूक्ष्म, क्षर-अक्षर सभी प्रकार के अहंभाव का ज्ञानजन्य भक्ति में विजय करके, अन्त में वह भाग्यवान अन्दर-बाहर, सर्वत्र, सभी रूपों में लीला कर रहे आदि पुरुष का – पुरुषोत्तम का साक्षात्कार पाकर धन्य हो जाएगा –

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिः न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलं
असंग शस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा ।।
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।।[१]

❖ (क्रमशः) ❖

१. इस लोक में उस (संसार-पीपल) का वैसा स्वरूप देखने में नहीं आता। इसका कोई आदि, अन्त या स्थिति नहीं है। इस संसार-रूपी महावृक्ष को अनासक्ति (वैराग्य) रूपी तीक्ष्ण शस्त्र से दृढ़तापूर्वक काटने के बाद उस परम पद की खोज करनी चाहिए, जहाँ जाकर (ज्ञानी) का पुनर्जन्म नहीं होता। जहाँ से यह अनादि संसार-प्रवाह निःसृत हुआ है, मैं उन्हीं आद्य पुरुष की शरण लेता हूँ – ऐसा निश्चय करना चाहिए।